# श्रीरामकृष्णवचनामृतप्रसंग



स्वामी भूतेशानन्द

# श्रीरामकृष्णवचनामृत प्रसंग

## (प्रथम भाग)

स्वामी भूतेशानन्द

(द्वितीय संस्करण)

रामकृष्ण मठ
नागपुर

प्रकाशक :
स्वामी ब्रह्मस्थानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ
रामकृष्ण आश्रम मार्ग
धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२

अनुवादक :
श्री राजेन्द्र तिवारी,
रायपुर

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्पसंख्या ११२

[ व ९९ : प्र ३० ]

३.११.१९९९

मुद्रक :
पशुपतिनाथ एन्टरप्रायजेस
प्लाट नं.११३
कलमना रोड, नागपुर-८

मूल्य : रु. २०.००

# दो शब्द

## (प्रथम संस्करण)

हमारा नया प्रकाशन 'श्रीरामकृष्णवचनामृतप्रसंग – प्रथम भाग' पाठकों के सम्मुख रखते हमें प्रसन्नता हो रही है।

रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने कुछ वर्ष पहले बेलुड़ मठ में और रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उन बँगला प्रवचनों को संकलित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृतप्रसंग' के नाम से कुछ खण्डों में प्रकाशित किया गया। प्रस्तुत पुस्तक 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृतप्रसंग – प्रथम भाग' का अनुवाद है। यह सम्पूर्ण अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर से प्रकाशित त्रैमासिकी 'विवेकज्योति' में धारावाहिक रूप से निकल चुका है। विषयवस्तु की उपादेयता को देखकर हम यथायोग्य अनुमतिपूर्वक इसे पुस्तकरूप में प्रकाशित कर रहे है।

अनुवाद का कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के शिक्षक श्री राजेन्द्र तिवारीजी ने बड़ी भक्ति और निष्ठा के साथ किया है। इसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी है।

आशा है यह पुस्तक पाठकों के लिए जीवनोपयोगी सिद्ध होगी।

स्वामी रामकृष्णानन्द जयन्ती
२० जुलाई १९९०
नागपुर

– **प्रकाशक**

# अनुक्रमणिका

# श्रीरामकृष्णवचनामृतप्रसंग

## प्रथम खण्ड

* * *

## भूमिका

श्रीरामकृष्ण की भक्तमण्डली का यह दृढ़ विश्वास है कि 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' में समस्त शास्त्रों का सार समाहित है। इस प्रकार का इतने सरल ढंग से सब के लिए सहजलभ्य, सहजगम्य रूप में धर्म के गूढ़ तत्त्वों का उपदेश और कहीं है या नहीं, हम नहीं जानते। इसलिए इसमें सन्देह नहीं कि 'वचनामृत' का पाठ और उसका अनुशीलन हम सभी के लिए परम मंगलमय होगा।

### शास्त्र में पुनरुक्ति

देखा जाता है कि 'वचनामृत' में एक ही बात को अनेक बार कहा गया है, लेकिन यह पुनरुक्ति दोष नहीं है, अपितु परम कल्याणकारी है। कहा जाता है कि हमारे शास्त्र सनातन हैं। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं — 'स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः' (४.३) — 'हे अर्जुन, वही पुरातन योग आज पुनः मैंने तुमसे कहा।' जो प्राचीन काल में अनेक बार कहा जा चुका है, उसकी ही गीता में पुनरावृत्ति करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से यह कहते हैं। युग युग में भगवान् स्वयं आविर्भूत हो कर धर्म के मूलतत्त्वों की बार बार पुनरावृत्ति करते हैं। यह जो बार बार आविर्भूत होकर वे एक ही सनातन तत्त्व को बार बार कहते हैं, वह पुनरुक्तिदोष नहीं है। 'शास्त्रेषु न जामिता अस्ति' — एक ही बात को बार बार कहने में शास्त्र को कोई आलस्य नहीं है, क्योंकि हमारा मन ही ऐसा है, जो बार बार सुनकर भी कुछ ग्रहण कर पाता है या नहीं इसमें सन्देह है। इसीलिए शास्त्र अनलस भाव से बार बार

कहते जाते हैं। जिस प्रकार माँ सन्तान के कल्याण के लिए उसे बार बार उपदेश देती है, बार बार कहते हुए नहीं थकती, क्योंकि उससे लड़के का कल्याण होगा, ठीक वही भाव शास्त्रों का है। शास्त्रों का जो निष्कर्ष है, जो सार बात है, उसे शास्त्र अनेक बार अनेक प्रकार से कहते हैं। 'वचनामृत' में भी हमें यही परम्परा दिखाई देती है। ठाकुर के भानजे हृदय ने एक बार कहा था – मामा, तुम एक ही बात को बार बार क्यों कहते हो ? ठाकुर बोले – क्यों नहीं कहूँगा ? आशय यह है कि यदि बार बार न कहा जाए, तो हम जैसे लोगों के विक्षिप्त मन पर छाप कैसे पड़ेगी ? इसीलिए उन्हें बार बार कहना पड़ता है, और हमें बार बार सुनना पड़ता है। अतः शास्त्रों में पुनरुक्तिदोष नहीं होता। ऋषिगण भागवत में एक स्थान पर (१.१.१९) कहते हैं कि भगवान् की कथा 'स्वादु स्वादु पदे पदे' है। जितना ही सुनते हैं, उतना ही हमारे अन्तःकरण में रसास्वादन करने की नयी शक्ति आती जाती है। जितने दिन व्यतीत होते हैं, जितना ही सुनते हैं, उतना ही अधिक समझ पाते हैं, उतना ही अधिक उसके भीतर निहित रस का आस्वाद पाते हैं। इसलिए भी हमें बार बार सुनना होगा।

### 'वचनामृत' – अमृतस्वरूप, सहज और युगोपयोगी

अतएव जो अमृत हमें मृत्युसागर से पार कराएगा, उस 'वचनामृत' का हम आस्वादन करने की चेष्टा करेंगे। उनकी कृपा से यदि हम इसका तनिक भी मर्म ग्रहण कर सके, तो इससे हमारा जीवन सार्थक हो जाएगा। यदि हम अमृत की एक बूँद भी किसी प्रकार ग्रहण कर सके, तो अमर हो जाएँगे। ठाकुर की वाणी को अमृत कहा गया है। मास्टर महाशय * को तुलना के लिए और कोई शब्द नहीं मिला, तभी तो भागवत का अनुसरण करते हुए उन्होंने इसे 'कथामृत' नाम दिया। इस अमृत का पान करके मनुष्य युग युग तक अमर होता जाएगा। यह अमरवाणी मनुष्य के द्वार द्वार तक पहुँचेगी, मनुष्य के प्राणों में प्रवेश करेगी और उसे अमर बना देगी। इस वचन के अमृत का पान करने के लिए किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं है। शास्त्रग्रन्थ पढ़ने

---

* श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, उर्फ श्री 'म' – 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' के लेखक। यही ग्रन्थ हिन्दी में सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' द्वारा अनूदित होकर 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' के नाम से तीन भागों में प्रकाशित हुआ है।

के लिए हमें विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है। कुछ ज्ञान अर्जित कर लेने के पश्चात् ही शास्त्रों की चर्चा करने का अधिकार प्राप्त होता है। किन्तु 'वचनामृत' की चर्चा करने के लिए इस प्रकार के अधिकार की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ भी नहीं जानते, उनके लिए 'वचनामृत' और भी सहजगम्य होगा। अनेक प्रकार का ज्ञान मनुष्य को विभ्रान्त कर देता है, मनुष्य के संशय को बढ़ा देता है। वास्तव में 'एक ज्ञान' ही ज्ञान है। प्रथम दर्शन में ही मास्टर महाशय ने ठाकुर से सीखा था कि भगवान् को जानने का नाम ही ज्ञान है और न जानने का नाम अज्ञान।

यही सीखने की बात है। मास्टर महाशय के लिए यह नयी बात थी, हालाँकि वे ठाकुर के पास शुद्ध अन्तःकरण लेकर ही गये थे। यही कारण था कि ठाकुर ने उन्हें प्रारम्भ से ही अपना कहकर ग्रहण कर लिया था और इस वाणीरूपी अमृत को जगत् में वितरित करने का गुरुतर भार उनके कन्धों पर उनके अनजाने ही रख दिया था। उन शुद्धचित्त और विद्याधनी मास्टर महाशय ने ठाकुर के पास जाकर प्रथम वार्तालाप में ही यह जान लिया था कि ईश्वर को जानने का नाम ज्ञान है और उनको न जानने का नाम अज्ञान। यदि हम कुछ पुस्तकें पढ़ते हैं, तो उससे हमारी बुद्धि कुछ परिमार्जित हो सकती है, पर यदि अन्तःकरण शुद्ध न हो, तो बुद्धि का यह परिमार्जन तत्त्वज्ञान के लाभ में हमारा कोई विशेष सहायक नहीं होता। 'पोथी पढ़ तोता भया, पण्डित भया न कोय।' ठाकुर कहते थे – तोता 'राधाकृष्ण' कहता है, और भी अनेक शब्द पढ़ता है, लेकिन जब बिल्ली पकड़ती है, तब टें टें करता है। तब उस समय राधाकृष्ण नहीं कहता। पाण्डित्य के द्वारा मनुष्य की बुद्धि में प्रखरता तो आ जाती है, वाक्चातुर्य से वह लोगों को मुग्ध तो कर ले सकता है, पर उसके द्वारा संशय दूर नहीं होता। पाण्डित्य के द्वारा मनुष्य भगवान् को जान ले यह सम्भव नहीं। भगवान् को जानने का पथ भिन्न है। पाण्डित्य के द्वारा उन्हें नहीं जाना जा सकता। मुण्डक उपनिषद् कहता है – आत्मा को बहुत शास्त्राभ्यास के द्वारा नहीं जाना जा सकता – 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः।' (३. २. ३) बहुत से शास्त्रों का ज्ञान अर्जित करके ही कोई व्यक्ति भक्त या ज्ञानी नहीं हो जाता, अपितु कई बार तो अधिक अध्ययन मनुष्य की बुद्धि को विभ्रान्त

कर देता है। 'नानुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्' (बृहदारण्यक उप. ४. ४. २१) – अधिक शास्त्रों का अध्ययन मत करना, क्योंकि वह वागिन्द्रिय के लिए ग्लानिकारक है। अधिक पढ़ने से बुद्धि विचलित होती है। शास्त्राध्ययन किया जाता है बुद्धि को शुद्ध करने के लिए, प्रखर बनाने के लिए; लेकिन शास्त्र ही कहते हैं कि बहुत शास्त्रों के अध्ययन से परिणाम विपरीत होता है, बुद्धि विक्षिप्त हो जाती है। भक्त वैकुण्ठनाथ सान्याल से ठाकुर ने एक दिन पूछा, "क्या तुमने पंचदशी-वंचदशी पढ़ी है?" सान्याल महाशय ने उत्तर में कहा, "महाशय! मैं तो नहीं जानता कि यह किसका नाम है।" सुनते ही ठाकुर बोले, "बच गया! कुछ वाचाल लड़के यह सब पढ़कर आते हैं। वे करते-धरते कुछ भी नहीं, बस, मुझे परेशान करते हैं।" कुछ किताबें पढ़कर बदहजमी हो जाने से मनुष्य पण्डितमूर्ख होता है। वह सोचता है कि पण्डित हो गये, पर वह समझ नहीं पाता कि वास्तव में वह मूर्ख है। इसीलिए शास्त्र ही बार बार कहते हैं कि बहुत शास्त्रों का अध्ययन करके उन्हें नहीं जाना जा सकता। थोड़ा धर्मभाव आते ही मनुष्य गीता, पंचदशी, वेदान्तग्रन्थ यह सब पढ़ने की चेष्टा करता है। लेकिन इसका परिणाम क्या होता है? यह कि बुद्धि भ्रमित हो जाती है। तो क्या शास्त्र न पढ़ें? ठाकुर ने यह नहीं कहा, और न शास्त्र ही ऐसी बात कहते हैं। हम शास्त्र अवश्य पढ़ें, पर उसके लिए जो विवेक, जो श्रद्धा आवश्यक है, वह विवेक, वह श्रद्धा पहले अर्जित करें और तब पढ़ें। शास्त्र किस सीमा तक मनुष्य को भ्रमित कर देता है, यह शास्त्रों के असंख्य मतवादों को देखकर हम समझ सकते हैं। कोई कहता है – शास्त्र यह बात कहता है; कोई कहता है – नहीं, शास्त्र अन्य बात कहता है। इस बात का आज तक कोई समाधान नहीं हो पा रहा है। और फैसला न हो पाने का कारण यही है कि सभी लोग छिलके को लेकर खींचातानी कर रहे हैं, शास्त्र के भीतर जो सारवस्तु है, वहाँ तक पहुँच नहीं पा रहे हैं। ठाकुर कहते थे – "शास्त्र में रेत और शक्कर के कणों का मिश्रण है, उनमें से केवल शक्कर के कणों को चुनना बड़ा कठिन है।"

इसीलिए हम शास्त्रों को सरलता से नहीं समझ पाते। तो फिर उपाय क्या है? उपाय है – जिनके जीवन में शास्त्र सजीव हो उठा हो, उनके जीवन

के प्रकाश में शास्त्र को देखें। अन्यथा कोई उपाय नहीं है। शास्त्र को समझने के लिए यदि हम निरपेक्षभाव से चेष्टा करें – स्वतन्त्र रूप से अपनी बुद्धि के द्वारा समझने की चेष्टा करें, तो यह हमारे बस की बात नहीं कि हम शास्त्र के मर्म का स्पर्श कर ले सकेंगे, क्योंकि तब हम वहाँ केवल बातों की दाँव-पेंच ही देखेंगे और उसी प्रकार भ्रमित होंगे, जिस प्रकार अनेक पाश्चात्त्य पण्डित भाषाशास्त्री की दृष्टि से शास्त्रों के मर्म को प्रगट करने जाकर बुद्धि के सीमाहीन विभ्रम में पड़ गये हैं। यह स्वाभाविक है; क्योंकि जिस यन्त्र के द्वारा उन्होंने शास्त्रों को समझने की चेष्टा की, वह मनरूपी यन्त्र शुद्ध नहीं था। अतएव उसके भीतर से शास्त्रों का प्रकृत अभिप्राय बिलकुल प्रगट नहीं हो पाया। अतः एकमात्र उपाय यही है कि जिन्होंने अपने जीवन के आलोक में शास्त्रों को उद्‌भासित किया है, जिन्होंने अपने प्राण देकर शास्त्रों को प्राणवन्त बनाया है, उन्हीं के जीवन के आलोक में शास्त्रों को समझा जाए। अन्य और कोई उपाय नहीं है।

'वचनामृत' इस दिशा में हमारा अचूक सहायक होगा। इसका अवलम्बन करके हम सत्य को इतनी सरलता से जान सकेंगे कि अन्य किसी उपाय से वह सम्भव नहीं। जगत् के आदिकाल से लेकर आज तक मनुष्य के सामने जितनी समस्याएँ उपस्थित हुई हैं, उनका इतना सुन्दर, इतना सहज समाधान और कहीं मिलता है या नहीं, इसमें सन्देह है। ठाकुर कहते थे – बादशाही अमल का सिक्का नवाबी अमल में नहीं चलता। फिर कहते – पहले साधारण ज्वर होता था, तब सामान्य पाचक इत्यादि देने से वह दूर हो जाता था; अब आजकल जैसा मलेरिया ज्वर है, उसके लिए वैसी ही 'डी. गुप्त' दवा है। तात्पर्य यह कि प्राचीन पद्धतियों से नयी समस्याओं का समाधान नहीं होता। युग बदल गया है, अनेक ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं, जो पहले नहीं थीं। इन नयी समस्याओं के लिए कोई नया आलोक चाहिए, जिसके द्वारा इन समस्याओं का समाधान हो सके।

### नारदीय भक्ति

ठाकुर के जीवन और 'वचनामृत' में हम इन्हीं नवीन समस्याओं का अपूर्व समाधान पाते हैं। कितने प्रकार से उन्होंने हमारे जीवन की समस्याओं

का सहज समाधान कर दिया है, यह देखकर आश्चर्य होता है। वे कहते थे – पहले लोग याग-यज्ञ-तपस्या करते थे, आज कलियुग का जीव वह सब कैसे करेगा? उसके तो प्राण अन्नगत हैं, मन दुर्बल है! आज तो एकाग्र होकर मात्र हरिनाम करने से ही संसारव्याधि दूर होगी। कहते थे – ऋषियों के समान कठोर तपस्या करने के लिए तुम्हारे पास अब समय कहाँ है? तुम लोग अल्पायु हो। तुम्हारे प्राण अन्नगत हैं। समय नहीं है। याग-यज्ञ का इतना विराट् आडम्बर करने की तुम लोगों को आवश्यकता भी नहीं है। क्या करने की आवश्यकता है, यह उन्होंने तरह तरह से बताया है। वे नारदीय भक्ति की बात कहते थे। वह किसी सम्प्रदायविशेष की भक्ति नहीं है। नारदीय भक्ति का अर्थ है – शुद्ध भक्ति, शरणागतिसंयुक्त भक्ति, जहाँ भक्त भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण कर देता है। सो कैसे करें, यह ठाकुर दिखला देते हैं। कहते हैं – 'माँ, मैं कुछ नहीं जानता; तुम मुझे सब बता दो, समझा दो। जिस उपाय से तुम्हें पाया जाता है, वह सब साधन-भजन मैं नहीं जानता। जो करना हो वह सब मुझसे करा लो।' यह जो सम्पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण है, इसी का नाम है नारदीय भक्ति। आशय यह है कि हम उनसे कुछ भी न चाहें, केवल उनको ही चाहें। वहाँ भगवान् को उपाय बनाकर ग्रहण नहीं किया जा रहा है। अर्थात् यह उद्देश्य नहीं कि भगवान् को हम इसलिए पुकारते हैं कि वे हमारा रोग दूर कर दें, हमारी सम्पत्ति बढ़ा दें, हमारे सब आत्मीय-स्वजनों को सुखी रखें, सब को दीर्घजीवी बनावें। यह सब तो मनुष्य की स्वाभाविक आकांक्षाएँ हैं। इन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए भगवान् से प्रार्थना करने का ठाकुर निषेध करते थे। क्यों? वे कहते थे – राजा के पास जाकर क्या कोई लौकी-कुम्हड़ा माँगता है? भगवान् यह सब देते हैं, नहीं दे सकते ऐसा नहीं, लेकिन वे और भी तो बहुत कुछ देते हैं। वे कल्पतरु हैं। उनसे जो चाहें वही जब मिलता है, तो फिर छोटी-मोटी चीज़ क्यों चाहें? एकदम उन्हीं को क्यों न चाह बैठें? जब उन्हीं को पा जाएँगे, तो और रह क्या जाएगा पाने के लिए? 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः' (गीता ६.२२) – 'जिसको पा लेने पर उससे और कोई बड़ा लाभ नहीं रह जाता।'

ध्रुव के उपाख्यान में है कि वह विमाता के द्वारा अपमानित हो क्षुब्ध

मन से अपनी माँ के आदेश पर तपस्या करने चला गया। क्यों ? इसलिए कि उसके पिता का जो राज्य था, उससे भी बड़ा राज्य वह चाहता था। छोटे बच्चों के मन में जैसा होता है! अभिमान को धक्का लगा था। पिता का जो राज्य है, उससे भी बड़ा राज्य चाहिए। भगवान् के पास उसने ऐकान्तिक भाव से प्रार्थना की। बालक की ऐकान्तिक प्रार्थना ने भगवान् को विचलित कर दिया। वे सामने प्रकट हो गये। बोले, "क्या वर चाहिए ?" ध्रुव असमंजस में पड़ गया। कहने लगा, "वर ? वर तो मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।" "यह क्या, ध्रुव !" भगवान् बोले, "स्मरण तो करो, तुम किसलिए तपस्या कर रहे हो ?" तब ध्रुव को स्मरण हो आया। बोला, "हाँ, मैंने स्थान की अभिलाषा ले, राज्य पाने की आकांक्षा ले, एक बड़े राज्य को पाने के लिए तपस्या आरम्भ की थी। लेकिन मैं जो चाहता था, उससे कहीं बहुत बड़ी वस्तु पा गया हूँ। काँच खोजते खोजते कांचन पा गया हूँ। मैंने बहुमूल्य वस्तु पा ली है। 'स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे' (हरिभक्तिसुधोदय, ७. २८) – हे प्रभु, मैं कृतार्थ हो गया हूँ, मैं और कोई वर नहीं चाहता।" इसी का नाम है अहैतुकी भक्ति, निःस्वार्थ भक्ति, नारदीय भक्ति। यह नारदीय भक्ति वैष्णवों को होगी, शाक्तों को भी होगी। केवल हिन्दुओं को नहीं वरन् अन्य धर्मावलम्बियों को भी होगी। यह न होने से आध्यात्मिक राज्य में प्रवेश का अधिकार नहीं मिलता। इस सहज बात को हम 'वचनामृत' में बार बार पाएँगे।

### श्रीरामकृष्ण – जीवन और उपदेश

सर्वोपरि, हम लोग ठाकुर का जीवन देखेंगे। उनकी वाणी, उपदेश, सब कुछ उनके जीवन के द्वारा ही प्राणवन्त बने हैं। उनकी वाणी कोई साधारण वाणी नहीं है। वह सब उनके जीवन में उतरी है। उनका जीवन उनकी वाणी का उज्ज्वल दृष्टान्त है। अतः उनके जीवन पर दृष्टि डालने से हम 'वचनामृत' को सहज में ही समझ सकेंगे। मानो इसीलिए उनका आविर्भाव इस वर्तमान युग में, इस अनिश्चयता के युग में, जिसे हम लोग 'घोर कलियुग' कहते हैं, हुआ है। जो श्रीरामकृष्ण पर विश्वास रखते हैं, वे यह मानते हैं, तथा स्वामी विवेकानन्द भी यह कहा करते थे कि ठाकुर के जन्म के साथ सत्ययुग का आरम्भ हो गया है। यह कोई कम सौभाग्य की बात नहीं है कि ऐसे युग में

हम आये हैं, जब श्रीरामकृष्ण का ज्वलन्त प्रभाव चारों ओर फैलकर छा गया है। प्रबल शक्ति का मानो एक घनीभूत रूप हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। मानो सूर्य के निकट आकर हम खड़े हैं। किन्तु यह सूर्य दग्ध नहीं करता, स्निग्ध करता है। श्रीरामकृष्ण के भीतर भयदायक कुछ भी नहीं है। उनके चरित्र और वाणी के माध्यम से उन्हें देखने पर भय नहीं होगा। एक नन्हे बालक को भी भय नहीं होगा। चिमटा नहीं, जटा नहीं, भस्म नहीं, न ही किसी प्रकार का विकट हुंकार!

उनके उपदेशों में कोई ऐसी जटिलता नहीं, जो हमारे लिए दुर्बोध्य हो। उन्होंने कितना सरल बनाकर सब बातें कही हैं, जिससे हम अनायास वह सब समझ सकें, जिससे हमारा मन भ्रमित न हो। भगवान् से प्रेम करने के प्रसंग में कहते थे – किस तरह प्रेम करें? जैसे हम मातापिता से प्रेम करते हैं। कहते थे – तीन आकर्षण एकत्र होने से भगवान् मिलते हैं – माता का पुत्र के प्रति आकर्षण, सती का पति के प्रति आकर्षण, और विषयी का विषय के प्रति आकर्षण। हम इन आकर्षणों को समझते हैं, क्योंकि हम सभी के जीवन में इसका कम या अधिक मात्रा में अनुभव होता ही है। ठाकुर कहते थे – इस प्रकार के आकर्षण यदि एकत्र होकर भगवान् की ओर लगें, तो भगवान् अवश्य मिलते हैं। इतनी सी बात को समझने के लिए बहुत अधिक शास्त्रज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

भगवान् को पाने के लिए कोई विकट प्रकार की साधना की बात वे नहीं कहते थे। एक सीधी सी बात कहते थे। ध्यान कहाँ करें? कहते थे – मन में, वन में, कोने में। वन में – सब तो वन में जा नहीं सकेंगे। तो कोने में – घर के किसी कोने में बैठकर उन्हें पुकारने से भी वे आएँगे। और यदि एक कोना भी ऐसा न मिले जहाँ निर्जन और एकान्त में उनका चिन्तन कर सकें, तो फिर मन में – परिवेश के प्रति निरपेक्ष होकर – पुकारने से भी वे मिलेंगे।

कोई कोई कहते – महाराज, इतना साधन-भजन करने के लिए समय कहाँ है? ठाकुर कहते – सुबह-शाम दो बार उन्हें खूब लम्बा प्रणाम करना; प्रणाम करके कहना, 'मेरे पास तो इतना समय नहीं कि तुम्हारा चिन्तन-स्मरण कर सकूँ, अतः हे प्रभु, तुम मुझे क्षमा करो, मुझ पर कृपा करो।' कितना सरल

कर दिया है। मात्र दो प्रणाम, दो बार, सुबह और शाम।

## गिरीशबाबू और बकलमा

गिरीशबाबू को उपदेश देते हुए ठाकुर कह रहे हैं — देखो, सुबह और शाम उनका स्मरण-मनन करते रहना। गिरीशबाबू सोच रहे हैं — दिन में दो बार स्मरण-मनन करने का समय कहाँ है? मैं तो कितने कार्यों में व्यस्त रहता हूँ। गिरीशबाबू को मौन देख, उनके मन का भाव समझकर, ठाकुर कहते हैं — सोने और खाने के पहले एक बार स्मरण कर लेना। गिरीशबाबू फिर भी मौन हैं, कोई उत्तर नहीं दे पा रहे हैं। सोच रहे हैं कि मेरा तो खानेपीने का कोई ठीक समय है नहीं, किसी दिन खाता हूँ सुबह दस बजे, तो किसी दिन सन्ध्या पाँच बजे। मामला-मुकदमा लेकर व्यस्त रहता हूँ, ऐसी स्थिति में इन्हें वचन कैसे दूँ? फिर ठाकुर इतना सरल कार्य करने को कह रहे हैं कि 'नहीं कर सकूँगा' भी कैसे बोलूँ! हताश होकर वे चुप बैठें हैं। गिरीशबाबू के मन की बात समझकर ठाकुर कह रहे हैं, "तू कहेगा कि 'यह भी नहीं कर सकूँगा', तो ठीक है, तू मुझे बकलमा दे दे।" इस प्रकार हमारे लिए धर्म को इतना सहज-सरल बनाकर क्या किसी ने कहा है? फिर यह भी हमें साथ साथ सोचना चाहिए कि उन्होंने धर्म को इतना सरल बनाकर जो कहा है, वह कोई धर्म का खिलवाड़ किया हो सो बात नहीं। इसमें किसी प्रकार का समझौता नहीं है। मिलावट कुछ भी नहीं है। यह बात गिरीशबाबू ने बहुत बाद में — ठाकुर के लीलासंवरण के बाद — समझी थी और कहा था — तब क्या मैंने समझा था कि बकलमा देने के भीतर इतना अर्थ समाया हुआ है? ठाकुर ने गिरीशबाबू को बकलमा देने की बात कहने के बाद उस भाव की उपयोगी शिक्षा भी दी थी। 'लीलाप्रसंग' में लिखा है कि एक दिन गिरीशबाबू ठाकुर के सामने किसी बात पर कह उठे, "मैं करूँगा।" तब ठाकुर बोले, "यह क्या? इस प्रकार 'मैं करूँगा' क्यों कहा? यदि न कर सके तो? कहो कि ईश्वर की इच्छा होगी तो करूँगा।" गिरीशबाबू तुरन्त समझ गये — सच ही तो है, जब मैंने उनको बकलमा दे दिया है, सब बात में अपना समस्त भार उन पर सौंप दिया है, तब तो फिर पूरी तरह उन पर ही निर्भर रहना चाहिए, यदि वे करने देंगे, तभी तो मैं करूँगा! बाद में गिरीशबाबू कहा करते थे — तब तो समझा नहीं था, पर अब

देख रहा हूँ कि जिसने बकलमा दिया है, उसे पग पग पर, प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में देखना पड़ता है कि भगवान् की शक्ति से उसने पैर को चलाया, श्वास-प्रश्वास लिया, या इस अभागे 'मैं' के बल पर ऐसा किया!

### संसार और साधना

संसार का त्याग करना होगा, यह बात वे नहीं कहते, और न ही यह कहते कि सब कुछ त्यागकर, घर-द्वार छोड़कर चले जाना होगा। एक दिन किसी ब्राह्म भक्त ने कहा – वे अभी जो भी क्यों न कहें, बाद में एक दिन कट् से काट लेंगे। अर्थात् बाद में वे एक दिन, जिसको कहते हैं, जहरीले साँप की तरह फन मारेंगे कि घर-द्वार कुछ न रह जाएगा। ठाकुर बोले – ऐसा क्यों जी। मैं तो तुम्हें घरबार छोड़ने के लिए नहीं कहता। बस, इतना ही कहता हूँ कि संसार करो, लेकिन इतना ध्यान रखकर करो कि यह संसार केवल उनका है। उन्हें पकड़कर संसार करो, जैसे हाथ में तेल लगाकर कटहल काटा जाता है, वैसे ही। इससे उसका दूध चिपकेगा नहीं। संसार में रहो, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। यदि भगवान् को पकड़कर संसार में रहोगे, तो संसार का दोष तुम्हारा स्पर्श नहीं करेगा। यह हुआ ठाकुर का उपदेश। कहते हैं – खूँटे को पकड़कर चक्कर लगाओ, तब गिरोगे नहीं। जैसा कि भागवत में है; नौ योगीश्वरों में से एक – कवि – राजा निमि से कहते हैं –

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलन्न पतेदिह ॥(११. २. ३५)

– इस (भागवतधर्म) का अवलम्बन करके मनुष्य कभी प्रमादग्रस्त नहीं होता; वह यदि आँख बन्द करके दौड़े तो भी नहीं गिरेगा। ठाकुर कहते थे – जिस बालक का हाथ पिता ने स्वयं पकड़ रखा हो, या जिसे वह गोद में उठाकर ले जा रहा हो, उसे भय नहीं है। वह अनायास हाथों से ताली बजाते हुए जा सकता है। और जो बालक स्वयं पिता का हाथ पकड़कर चल रहा है, उसके गिर पड़ने का भय बना रहता है। कभी अन्यमनस्क होकर हाथ से ताली बजाते समय शायद गिर पड़े। उनका अवलम्बन करना, उनके चरणों में सर्वस्वसमर्पण कर देना, अपना भार उन पर छोड़ देना – यही भाव हम 'वचनामृत' में बहुत स्पष्ट रूप में पाते हैं।

## कर्म, ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य

ठाकुर ने जैसे भक्ति की बात कही है, वैसे ही साथ साथ ज्ञान की — चरम ज्ञान की बात भी कही है। वेदान्ती अपनी बुद्धि की सहायता से वेदान्त- विचार की जितनी दूरी तक जा सकता है, वह तो हम ठाकुर की वाणी में ही अति सहज रूप से पा लेते हैं। ठाकुर कहते थे — तुम्हारे वेदान्त में यही तो है न — अस्ति, भाति और प्रिय! इस अस्ति, भाति और प्रिय को लेकर तुम विचार कर रहे हो। तात्पर्य तो यही है, सार बात तो यही है कि वे हैं, वे प्रकाशित हैं, और वे हमारे प्रिय हैं। इतनी सी बात को समझ लेने से ही तो तुम्हारा टोकरीभर वेदान्त का कार्य हो गया। बात तो ठीक है, पर इस प्रकार कहने से हमारी बुद्धि का प्रदर्शन तो हो नहीं पाएगा! हम कितने बड़े पण्डित हैं, यह दिखाने के लिए हमें पूर्वपक्ष दिखाना होगा, सिद्धान्त दिखाना होगा, फिर उलटकर सिद्धान्त को पूर्वपक्ष बनाकर और पूर्वपक्ष को सिद्धान्त बनाकर प्रतिष्ठित करना होगा। हाँ को ना करना होगा, ना को हाँ करना होगा। यह सब नहीं किया तो फिर पण्डित काहे का? ठाकुर कहते थे — उस सब का तुम्हें क्या प्रयोजन? तुम्हें तो बस किसी प्रकार अहंकार को नष्ट करना है। इसे छोड़ ज्ञानी और करता ही क्या है? 'मैं मरै छूटै जंजाल।' अतः इस अहंकार को चाहे जिस प्रकार से हो, नष्ट करो। ज्ञान के माध्यम से हो, चाहे भक्ति के माध्यम से, चाहे कर्म के माध्यम से हो, या फिर चाहे सब को मिलाकर हो। ठाकुर उपमा देते हैं सुनार की। सुनार सोना गलाते समय कमर कसकर भिड़ जाता है। एक हाथ में धौंकनी, एक हाथ में पंखा, मुँह में फूँकनी — जब तक आग तेज होकर सोना गल नहीं जाता। इसी प्रकार भगवान् के लिए जब मनुष्य के अन्तःकरण में प्रबल उत्कण्ठा जागृत होती है, तब वह सब प्रकार से एवं प्राणपण से भिड़ जाता है, जब तक कि सोना गल नहीं जाता, अर्थात् जब तक वस्तुलाभ नहीं हो जाता। यह हुआ सीधी-सादी भाषा में ठाकुर का उपदेश। वे इन बातों के माध्यम से कर्म, भक्ति और ज्ञान में कैसा अपूर्व सामंजस्य ला दे रहे हैं, यह हम 'वचनामृत' में देखते हैं। अपूर्व सामंजस्य है, जिसे यदि ठाकुर की दृष्टि से हम नहीं देखते, तो हमें चिरकाल के लिए संसार में डूबे रहना पड़ता। पण्डितों ने तो कब आदिम-युग से जो दार्शनिक विचार शुरू किया, आज तक वह

समाप्त नहीं हुआ कि ईश्वर अद्वैत है या द्वैत, या कि विशिष्टाद्वैत; वह एक है कि अनेक, सगुण है कि निर्गुण, साकार है कि निराकार; यदि साकार है तो उसके चार हाथ हैं कि दस हाथ या कि हजार हाथ! समस्या का कोई अन्त नहीं। इन सब समस्याओं की सुन्दर मीमांसा हम 'वचनामृत' में पाते हैं — इतना सहज समाधान कि उसे हम सभी समझ सकते हैं।

आजकल हम लोग सर्वजनीनता की बात कहते हैं। कहते हैं कि सब के लिए उपयोगी हो ऐसी चीजें देनी होंगी। ठाकुर के उपदेशों के समान ऐसा सर्वजनीन उपदेश खोजने पर भी मिलना कठिन है। उनके उपदेश पण्डित और मूर्ख दोनों को तृप्ति देते हैं; भक्त, ज्ञानी और कर्मी सब को समान रूप से उद्बुद्ध करते हैं; नास्तिक तक को नहीं छोड़ते। यदि कोई नास्तिक हो, ईश्वर है या नहीं इस पर संशय रखता हो, तो ठाकुर कहते हैं — तुम ऐकान्तिक भाव से उनसे प्रार्थना करो, वे ही समझा देंगे कि वे हैं या नहीं। नास्तिक तक को ठाकुर वंचित नहीं करते — उसकी उपेक्षा नहीं करते।

'वचनामृत' में हम उनकी अभयवाणी पंक्ति पंक्ति में पाते हैं। देखते हैं, वे किस प्रकार सब समय हमें साहस प्रदान कर रहे हैं। हमारे भीतर जितनी त्रुटियाँ हैं, जितनी अपूर्णताएँ हैं, वह सब देखकर भी वे हमारी उपेक्षा नहीं कर रहे हैं, बल्कि किस प्रकार हम इन त्रुटियों से, अपूर्णताओं से मुक्त होंगे इसका सहज सरल उपाय बतला दे रहे हैं। एक दृष्टान्त कहें : स्वामी योगानन्द (तब योगीन्द्रनाथ रायचौधरी) ने ठाकुर से पूछा कि काम किस तरह दूर होगा? ठाकुर बोले — खूब हरिनाम करना, उसी से दूर हो जाएगा। ठाकुर का यह उत्तर योगीन के बिलकुल मन के लायक नहीं था। वे सोचने लगे — यह क्या उपदेश दिया इन्होंने! ऐसा लगता है कि ये कोई क्रियाक्रिया नहीं जानते, इसीलिए कुछ भी बोल दिया। हरिनाम करने से कहीं काम दूर होगा? अगर ऐसा होता, तो इतने लोग तो भगवान् का नाम ले रहे हैं, फिर उनका काम दूर क्यों नहीं होता? बाद में सोचने लगे — ठाकुर जब कहते हैं, तो क्यों न एक बार करके देखा जाए, देखें क्या होता है! यह सोचकर वे एकाग्र मन से खूब भगवन्नाम लेने लगे और सचमुच थोड़े ही दिनों में उन्हें, ठाकुर ने जैसा कहा था, वैसा ही प्रत्यक्ष फल प्राप्त हुआ।

अनेक स्थानों पर अधिकारीभेद के अनुसार ठाकुर के उपदेशों में भिन्नता देखी जाती है — जिसके लिए जो हितकर हो, उससे वे वही कहते थे। लेकिन किसी भी स्थान पर उन्होंने अतिशयता की बात नहीं कही। अतिशय रूप से कुछ करने के लिए — जैसे कृच्छ्रसाधन (शरीरपीड़न), जिससे असाधारणता दिखाई दे ऐसा कुछ — उन्होंने कभी नहीं कहा। बल्कि कहते थे — असाधारणता कुछ भी न रखना, सामान्य रूप से रहना। और वे स्वयं सहजता और सरलता के दृष्टान्त हैं। जटा नहीं, भस्म नहीं, चिमटा नहीं, साधु के ऐसे कोई बाह्य चिह्न नहीं जो सर्वसाधारण से उन्हें भिन्न बना दे। लेकिन जो उनके निकट आते हैं, वे जितना ही उनके समीप जाते हैं, देखते हैं कि ठाकुर उतने ही दूर हैं; वे जितना ही उनकी ओर बढ़ते हैं, उतना ही उनके भीतर की विशालता का परिचय पाते हैं। यह उनकी अद्‌भुत विशेषता है।

ठाकुर जैसे सहज हैं, उनके उपदेश भी वैसे ही सहज हैं। इन सहज उपदेशों के द्वारा वे हमें खींच रहे हैं। भगवान् को पाने का पथ उन्होंने सरल कर दिया है, सुगम कर दिया है, इसका निरन्तर प्रमाण हमें 'वचनामृत' में प्राप्त होता है।

## 'वचनामृत' — परिचय और अभिप्राय

जिस ग्रन्थ को हम पढ़ना चाहते हैं, उसका प्रतिपाद्य विषय ग्रन्थ को पढ़ने के पूर्व ही हमें संक्षेप में समझ लेना चाहिए। विषयवस्तु को जान लेने की इच्छा स्वाभाविक ही है। 'वचनामृत' की विषयवस्तु क्या है ? 'वचनामृत' की विषयवस्तु है भगवान् और भगवान् को पाने का उपाय। किस उपाय से हमारा भवबन्धन कटेगा; किस उपाय से हम इस संसारव्याधि से मुक्त होंगे; यह जो जन्मजन्मान्तरों से अँधेरे में घूम रहे हैं, उस अन्धकार से निवृत्ति किस उपाय से होगी; हमारे मन के सारे संशय कैसे दूर होंगे; हम लोग संसार के समस्त कामकाज के बीच रहते हुए भी किस प्रकार भगवन्मुखी होकर अपार शान्ति के अधिकारी बनेंगे — यही सब। हम यह सब ठाकुर के उपदेशों में पाएँगे तथा हमारी व्यक्तिगत रुचि और रुझान चाहे जिस प्रकार की क्यों न हो, हम चाहे ज्ञानप्रवण हों, चाहे भक्तिप्रवण हों, या चाहे कर्मप्रवण, हम सभी 'वचनामृत' में पथ का निर्देश पाएँगे — मार्गदर्शन पाएँगे — अपूर्व प्रेरणा पाएँगे।

'वचनामृत' का परिचय देते हुए 'वचनामृत' के लेखक श्री 'म' (मास्टर महाशय) श्रीमद्भागवत का एक श्लोक उद्धृत करते हैं। 'भूमिका' में हम उसकी चर्चा कर सकते हैं। वह श्लोक है –

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ये भूरिदा जनाः॥ (१०.३१.९)

तुम्हारा यह जो वाणीरूप अमृत है, वह कैसा है? 'तप्तजीवनम्' – संसार के ताप से जो मनुष्य तप्त है, दग्ध हो मृतप्राय हो रहा है, जलकर जो मनुष्य मर रहा है, उसके लिए जलस्वरूप है। यह वाणीरूप अमृत उसकी समस्त पीड़ाओं को शान्त करता है, उसे जन्म-मृत्यु के हाथ से, संसारचक्र से बचा लेता है। इसके पश्चात् कहते हैं – 'कविभिरीडितम्' – जो कवि अर्थात् ज्ञानी हैं, शास्त्र के मर्म को जानते हैं, वे इस 'वचनामृत' की प्रशंसा करते हैं। वे सर्वदा इस 'वचनामृत' की यह कहते हुए स्तुति करते हैं कि यह 'वचनामृत' मनुष्य को मृत्यु के हाथ से बचाता है – उसे यह ज्ञान प्रदान करता है कि मनुष्य मरणशील नहीं है। और भी कैसा है यह 'वचनामृत'? 'कल्मषापहम्' – हमारी समस्त कालिमा, पाप, कलुष यह 'वचनामृत' दूर कर देता है। संसार में हमने कितनी कालिमा लगा ली है; ऐसा कोई दावा करके नहीं कह सकता कि हमारी देह में कालिख नहीं लगी है। तो इस कालिमा से मुक्त होने का उपाय क्या है? सम्भव है अनेकों को पश्चात्ताप होता हो कि इस कालिमा से मुक्ति पाने का कोई उपाय नहीं है। इसीलिए कहते हैं – उपाय है, यह 'वचनामृत' 'कल्मषापहम्' है। केवल इतना ही नहीं, पुराणों में तो कहा गया है कि अमृत का पान करने से ही अमरत्व प्राप्त होता है, पर यह ऐसा अमृत है, जिसे पीने की आवश्यकता नहीं, केवल सुनने से ही जीव का कल्याण होता है – 'श्रवणमंगलम्' अब यदि मन में यह प्रश्न उठे कि अच्छा, सुनने से ही कल्याण होता होगा, लेकिन यदि हमें सुनने में रुचि न हो तो? तो इसके उत्तर में कहते हैं – 'श्रीमद्' – सौन्दर्यविशिष्ट, इस वाणी में ऐसी सुषमा है, जो मनुष्य को अनायास ही – स्वाभाविक रूप से आकर्षित कर लेती है। और यह 'वचनामृत' इतना थोड़ा नहीं कि समाप्त हो जावे। इसलिए कहते हैं – 'आततम्' – विस्तृत। विस्तृत कहने का तात्पर्य है अपार और सहजलभ्य। जैसे आकाश

चारों ओर विस्तृत है, उसे खोजकर निकालना नहीं पड़ता। जैसे वायु चारों ओर परिव्याप्त है, उसको ढूँढ़कर आविष्कृत नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार यह वाणीरूपी अमृत अपार एवं सहजलभ्य है। तो फिर हम सभी क्यों नहीं इस 'वचनामृत' का पान करते ? इसके उत्तर में कहते हैं — 'भुवि गृणन्ति ये भूरिदा जनाः' — जिन लोगों ने बहुत दान किया है, अर्थात् बहुत पुण्य संचित किया है, उनकी इस 'वचनामृत' के प्रति स्वाभाविक रुचि होती है। वे ही इसकी स्तुति करते हैं, कीर्तन करते हैं, चर्चा करते हैं। रुचि किसी को होती है, किसी को नहीं। इसका कारण है पूर्व जन्म में किये गये कर्म। यदि पूर्व पूर्व जन्मों में किये गये अनेक पुण्य संचित हों, तो मनुष्य जन्म से ही ऐसी रुचि लेकर आता है। उसके लिए यह रुचि सहज रूप में रहती है। पर सुकृति यदि कम हो, तब तो संसार में सम्भवतः कोई आघात लगने पर इस 'वचनामृत' की ओर रुचि होती है। इस प्रकार विभिन्न स्तर के लोग हैं। फिर भी उन सभी के लिए यह 'वचनामृत' कल्याणकारी है। इस 'वचनामृत' का अनुशीलन करना कोई बहुत कठिन कार्य है, ऐसी बात भी नहीं। रुचि रहने से ही सब लोग आनन्द पाएँगे।

इस श्लोक को मास्टर महाशय ने 'कथामृत' लेखन के प्रारम्भ में ही उद्धृत किया है। ग्रन्थ का नाम उन्होंने 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' क्यों रखा, यह बात वे मानो भागवत के इस श्लोक को उद्धृत करके ही समझा देते हैं। जिन्होंने श्रीरामचन्द्र के रूप में जगत् के कल्याण के लिए सब को उपदेश दिये हैं, उन्होंने श्रीकृष्ण के रूप में अनेक प्रकार से उपदेश दिये हैं, जिनका सार हम गीता और भागवत में पाते हैं। वे ही फिर से श्रीरामकृष्ण के रूप में अब सब के लिए सहजबोध्य यह 'वचनामृत' प्रदान करते हैं। मास्टर महाशय ने जो श्लोक उद्धृत किया, उससे उनका यही अभिप्राय होना चाहिए ऐसा हम समझते हैं।

□ □ □

# १. प्रथम दर्शन

(वचनामृत १।१ : २६ फरवरी १८८२)

'श्रीरामकृष्णवचनामृत' ग्रन्थ से हर बार थोड़ा सा अंश हम लोग पढ़ेंगे और उसे समझने की कोशिश करेंगे। आज 'वचनामृत' के प्रथम भाग के प्रथम खण्ड से आरम्भ करते हैं। वैसे तो कहीं से भी आरम्भ किया जा सकता है, क्योंकि 'आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते' — आदि, मध्य, अन्त सभी स्थानों में भगवान् की ही कथा है। फिर भी सामान्यतया प्रारम्भ से ही शुरू किया जाता है, और यह स्वाभाविक भी है। इसलिए प्रारम्भ से ही शुरू करता हूँ। हम लोग अभी पढ़ेंगे कि किस प्रकार मास्टर महाशय सर्वप्रथम ठाकुर का साक्षात्कार करते हैं, किस भाव से उनका दर्शन करते हैं तथा उनकी वाणी से सर्वप्रथम क्या सुनते हैं। इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि मास्टर महाशय ने 'वचनामृत' में मात्र ठाकुर के उपदेशों का ही उल्लेख नहीं किया है, अपितु उपदेशों की पृष्ठभूमि तथा जिस अवस्था में ठाकुर उन्हें कह रहे हैं उस सब का चित्र प्रत्येक परिच्छेद में से वे देते गये हैं।

इसमें एक रहस्य है। मास्टर महाशय ठाकुर के उपदेशों को संक्षेप में अपनी डायरी में लिख रखते थे। इतने संक्षेप में कि उन्हें छोड़ अन्य कोई भी उसका अर्थ नहीं समझ सकता था। कहीं कहीं तो मात्र कुछ सांकेतिक शब्द लिख रखते थे। 'वचनामृत' ग्रन्थ लिखने से पहले वे इन शब्दों को लेकर एक एक दिन के दृश्य का ध्यान करते। वे कहते कि ध्यान करते समय उस दिन का सारा दृश्य उनकी आँखों के सामने स्पष्ट रूप से भासित हो उठता। इस प्रकार जब उनके मानसपटल पर उस दिन की सारी घटना प्रस्फुटित हो उठती, तब वे लिखना प्रारम्भ करते।

इसीलिए हम 'वचनामृत' में प्रत्येक उपदेश के भीतर एक वैशिष्ट्य पाएँगे। ऐसी बात नहीं कि उन्होंने ठाकुर के उपदेशों को मात्र एकत्र करके एक क्रम में सब के सामने रख दिया है, बल्कि वे एक एक दिन का चित्र हमारे

सामने उपस्थित कर देते हैं। ठाकुर बैठे हैं, किस ओर बैठे हैं, कमरे में उनके साथ कौन कौन हैं इत्यादि सब बातों का उल्लेख वे करते जाते हैं। इसके पूर्व उन्होंने कालीमन्दिर का विस्तार से वर्णन किया है। इसके पीछे उनका उद्देश्य यही था कि 'वचनामृत' को पढ़ते या सुनते समय उसके पाठक प्रारम्भ से इन दृश्यों के साथ ठाकुर का ध्यान करते हुए उन उपदेशों को समझने की चेष्टा करें। यह हुआ 'वचनामृत' का अपूर्व वैशिष्ट्य।

मास्टर महाशय ने अपने ध्यान की सहायता से इन उपदेशों को इस तरह लिखा है, मानो ठाकुर से उन बातों को अभी ही सुनकर लिख रहे हों। इसके पीछे उनका उद्देश्य यही था कि जो भी इन उपदेशों को पढ़े या सुने, उसके सामने यह सारा दृश्य इस प्रकार प्रत्यक्ष हो उठे कि उसे लगने लगे मानो वह ठाकुर के समीप बैठकर उनकी वाणी सुन रहा हो, और इस प्रकार ध्यान करता हुआ वह उपदेशों का चिन्तन कर सके। यदि ऐसा हो सका, तो ठाकुर के उपदेश उनके व्यक्तित्व से अलग होकर उसके पास नहीं आएँगे, अपितु उनके व्यक्तित्व की प्रभा में उज्ज्वल होकर, जीवन्त होकर, प्राणवन्त होकर उसके मानसपटल पर अंकित होंगे। तब उनके उपदेश व्यक्ति के सम्बन्ध से वियुक्त नहीं रहेंगे, तब वे जिसे हम abstract(भावातीत) कहते हैं, वैसे नहीं रहेंगे, अपितु हमें ऐसा प्रतीत होगा मानो ठाकुर साक्षात् बोल रहे हैं और हम जैसे लोगों को ही लक्ष्य करके बोल रहे हैं। इस दृश्य को सामने रख उनका ध्यान करते हुए 'वचनामृत' का चिन्तन करने से हमें बड़ा सुफल मिलेगा। इसीलिए मास्टर महाशय ने 'वचनामृत' को हमारे सामने इस रूप में रखा है, कोई dramatic effect(नाटकीय प्रभाव) उत्पन्न करने की दृष्टि से नहीं। उन्होंने उन उपदेशों को ध्यान की वस्तु बनाकर हमारे सामने रखा है।

यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है कि मास्टर महाशय ठाकुर के पास अनायास ही पहुँचे थे, वे संकल्पपूर्वक उनके दर्शन करने या उनसे मिलने नहीं गये थे। वराहनगर गये थे। तब वहाँ अनेक बगीचे थे। एक बगीचे से दूसरे बगीचे घूमते हुए चले जा रहे थे। साथ में थे उनके सम्बन्धी सिधू, जो इस स्थान से परिचित थे। वे बोले, "गंगा किनारे एक सुन्दर बगीचा है, क्या उस बगीचे को देखने चलेंगे? वहाँ एक परमहंस हैं।" इसके पश्चात् एक के बाद एक

बगीचा देखते हुए वे दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर के बगीचे में जा पहुँचे। अतः मास्टर महाशय वहाँ दैवयोग से ही पहुँचे थे। कोई कल्पना नहीं थी मन में। साधुदर्शन के लिए गये हों ऐसी बात भी नहीं थी।

तत्पश्चात् मास्टर महाशय ने ठाकुर के पास जाकर देखा कि वे कुछ अन्य लोगों से बातचीत कर रहे हैं। यहाँ पर उन्होंने मात्र इतना ही उल्लेख किया है। उन बातों के साथ तब मास्टर महाशय के अन्तःकरण का कोई योग नहीं हो पाया। पर हाँ, वे बातें उन्हें अच्छी लगीं। लगता है कि मास्टर महाशय तब ठाकुर के आकर्षण का प्रबल रूप से अनुभव नहीं कर पाये थे; क्योंकि उन्होंने कहा था, "पहले एक बार देख तो लूँ कि कहाँ आ गया हूँ, फिर यहाँ आकर बैठूँगा।"

मास्टर महाशय बगीचा देखने के लिए ठाकुर के कमरे से निकले कि इतने में घण्टे, घड़ियाल, मृदंग, करताल आदि बज उठे, मन्दिरों में आरती होने लगी। वे मन्दिरों की आरती देखकर ठाकुर के कमरे के सामने आये। देखा कि कमरे का दरवाजा बन्द है।

## लौकिक ज्ञान और भगवद्ज्ञान

पहले उनकी बात वृन्दा नाम की नौकरानी से हुई। मास्टर महाशय ने पूछा, "क्या ये खूब किताबें-विताबें पढ़ते हैं ?" वृन्दा नौकरानी बोली, "अरे बाबा, किताब-विताब! सब तो उनके मुँह में है।" वृन्दा तो नौकरानी है, पढ़ी-लिखी तो कुछ भी नहीं, पर उसने बड़े बड़े पण्डितों को उनके पास आते देखा है, बहुत से साधुओं, विशिष्ट व्यक्तियों और विशिष्ट साधकों को भी आते देखा है। और उनकी बातों को मनोयोगपूर्वक न सही, वैसे तो सुना है, और इतना जरूर समझा है कि सब लोग ठाकुर की बातों को सुनकर मुग्ध हुए हैं। वह जानती है कि ठाकुर किताबें-विताबें नहीं पढ़ते, इसलिए उसने अपना सिद्धान्त निकाल लिया कि 'किताब-विताब सब उनके मुँह में है।'

मास्टर महाशय को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ; क्योंकि उनकी धारणा थी कि आध्यात्मिक जीवन का जानकार होने के लिए ग्रन्थ आदि पढ़ना अपरिहार्य है। नहीं तो ज्ञान का भण्डार आखिर भरेगा कैसे ? इसीलिए ठाकुर किताब नहीं पढ़ते यह सुनकर वे आश्चर्यचकित हुए।

इसी प्रसंग में हम बाद में देखेंगे एक भक्त महिमाचरण की बात, जो ठाकुर के पास आया करते थे। वे कह रहे हैं, "बहुत खटना पड़ता है, तब कहीं भगवान् मिलते हैं। पढ़ना ही कितना पड़ता है! अनन्त शास्त्र हैं।" और उत्तर में ठाकुर कह रहे हैं, "शास्त्र कितना पढ़ोगे? किताब पढ़कर क्या जान लोगे? किताब पढ़कर ठीक ठीक अनुभव नहीं होता।"

साधारण मनुष्य समझता है कि ज्ञानलाभ करने के लिए बहुत शास्त्र-वास्त्र पढ़ना होगा। बहुत न पढ़ो तो ज्ञान कैसे होगा? बिना पढ़े तो सामान्य लौकिक ज्ञान अर्जित करना ही सम्भव नहीं है, फिर यह तो आध्यात्मिक ज्ञान है – भगवत्तत्त्वसम्बन्धी ज्ञान है। शास्त्रों में ही तो लिखा है, और साधकों की अनुभूतियाँ भी ग्रन्थों में लिपिबद्ध हैं कि उन सब किताबों को न पढ़ने से वह ज्ञान कैसे होगा? अतएव साधारण लोगों को यही लगता है कि ईश्वरलाभ करने के लिए अनेक ग्रन्थ पढ़ने पड़ते हैं, जैसा कि महिमाचरण कहते थे – 'पढ़ना ही कितना पड़ता है!'

महिमाचरण के घर में कमरा-भर किताबें थीं। यदि इस प्रकार कमरा-भर किताबें देखकर कोई व्यक्ति यह सुने कि इतनी सारी किताबें पढ़नी पड़ती हैं, तब तो वह वहीं से नमस्कार करके लौट जाएगा; सोचेगा – हमारे जीवन में ईश्वरलाभ होने की कोई सम्भावना नहीं है।

वृन्दा दासी के साथ बातचीत होने के बाद मास्टर महाशय जब ठाकुर के कमरे में घुसे, तब कमरे में और कोई नहीं था। वे ठाकुर के भाव पर लक्ष्य करते हैं। कैसा था उनका भाव? जब मछली चारे में मुँह लगा रही हो और बंसी का धागा हिल रहा हो, उस समय मछली पकड़नेवाले का जैसा भाव रहता है, ठीक वैसा ही भाव ठाकुर का तब था।

मास्टर महाशय ने अत्यन्त सूक्ष्म पर्यवेक्षणशक्ति लेकर जन्म लिया था। अद्भुत थी उनकी वह शक्ति। जहाँ भी जाते, प्रत्येक वस्तु को खूब बारीकी से देखते थे। सतही दृष्टि से देखना उनके स्वभाव में ही नहीं था। हम लोगों ने देखा है, जब वे मठ में आते तो प्रत्येक कमरे में जाते और उनके साथ जो अनुरागी भक्त आते, उनसे कहते, "देखो, सब चीजें देखनी चाहिए। मठ देखने का मतलब खाली जगह देखना तो है नहीं! यहाँ आकर सब कुछ

देखना, साधुओं के साथ बातें करना, वे कैसा रहते हैं यह देखना।" वे प्रत्येक कमरे के भीतर जाकर देखते थे। किसी के बिस्तर के पास कुछ पुस्तकें होतीं, तो वे पलट-पलटकर देखते कि कौनसी पुस्तकें हैं। इतनी बारीकी से देखते हुए सम्भवतः और किसी को हमने नहीं देखा है। अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से देखने का अभ्यास उनका बराबर बना रहा। इसीलिए 'वचनामृत' में जो वर्णन हम पढ़ते हैं, उनमें देखते हैं कि कितनी बारीकी से उन्होंने चित्रण किया है।

### ठाकुर की आत्मा में स्थित रहने की स्वाभाविक अवस्था

मास्टर महाशय देखते हैं कि ठाकुर अन्यमनस्क बैठे हैं। उस समय तक वे वैसी अवस्था के साथ परिचित नहीं हुए थे। यह परिचय कालान्तर में अत्यन्त प्रगाढ़ बना था। पर इस समय तो इतना ही देख पाते हैं कि ठाकुर अन्यमनस्क बैठे हैं। उन्होंने सोचा कि ठाकुर इस समय कुछ बोलना नहीं चाहते – सम्भवतः यह उनका सन्ध्या-वन्दन आदि करने का समय होगा। अतः उन्होंने कहा, "यह तो आपका सन्ध्या करने का समय होगा, मैं फिर कभी आऊँगा।" ठाकुर बोले, "सन्ध्या ? ना – ऐसा कुछ नहीं है!" ठाकुर के ऐसा कहने का अभिप्राय मास्टर महाशय उस समय समझ नहीं पाये। कालान्तर में समझ सके थे। ठाकुर ने समझा दिया था। सन्ध्यावन्दनादि का क्या प्रयोजन है, वह सब कितने दिन तक करना होता है, कब उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती, यह सब बाद में उन्होंने जाना था। इस समय तो केवल ठाकुर का अन्यमनस्क भाव ही उन्होंने देखा – आँखें खुली हैं, जैसे सामने की वस्तुएँ देख रहे हों, पर मन मानो बाहर कहीं किसी वस्तु पर नहीं है। उपमा दी – जैसे मछुवा पानी में बंसी डाले बैठा है और मछली पास आकर बंसी मे फँस गयी हों ! उस समय मछली पकड़नेवाले का मन और कहीं जाता है ? ठाकुर की दृष्टि इस समय और कहीं नहीं है – बस, मछली ने चारे में मुँह मारा है और बंसी में फँस गयी है, ऐसी अवस्था है।

यह जो अन्यमनस्क भाव है वह साधना की परिपक्व अवस्था में होता है। ठाकुर की सन्तानों – उनके पार्षदों – में से कुछ के साक्षात् सान्निध्य में आने का सौभाग्य हम लोगों को मिला था। हम लोगों ने देखा है कि उनको भी इसी तरह का एक अद्भुत अन्यमनस्क भाव होता था, जो अन्यत्र कहीं नहीं

देखा। अन्यान्य स्थानों में बड़े बड़े साधुओं के, विख्यात साधुओं के सम्पर्क में आने का अवसर हमें मिला, किन्तु कहीं भी यह अवस्था, संसार के विस्मृत हो जाने की ऐसी अन्यमनस्क अवस्था नहीं देखी। यह साधना की बड़ी परिपक्व अवस्था है। मैं समाधि की बात नहीं कहता, वह तो और भी बहुत दूर की बात है। यह जो बीच बीच में संसार की सुधि नहीं रह जाती, जगत् विस्मृत हो जाता है, संसार मन पर कोई रेखा नहीं खींच पाता है, संसार रहता तो है, पर मन पर कोई छाप नहीं लगा पाता है, ऐसी अवस्था की बात कर रहा हूँ। स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) द्वारा रचित एक गीत में निर्विकल्प समाधि के प्राथमिक सोपान की दृष्टि से ठीक इसी अवस्था का वर्णन हम पाते हैं – 'भासे व्योमे छाया सम छवि विश्व चराचर' – 'अस्फुट मन आकाशे' – मन के आकाश में चराचर विश्व छाया के समान प्रतिभासित होता है। छाया के समान अर्थात् मानो उसके देह न हो, मानो उसकी वास्तविक सत्ता न हो। छाया है इसलिए उसका अस्तित्व मन पर कोई रेखा नहीं खींच पा रहा है। समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड ही छाया के समान प्रतीत हो, यह एक अद्भुत अनुभूति है। इस अवस्था में मनुष्य 'देहस्थोऽपि न देहस्थः' – देह में रहते हुए भी मानो देह में नहीं रहता। यह समाधि-अवस्था नहीं है, अर्थात् ऐसी अवस्था नहीं, जिसमें सब इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। इन्द्रियाँ काम तो करती हैं, पर किसके लिए करती हैं इसका कुछ पता नहीं चलता। वे मन के सामने विषयों को प्रस्तुत करती हैं और मन उनको द्रष्टा या ज्ञाता के पास ले जाकर उपस्थित करता है। पर यदि वह ज्ञाता उनको ग्रहण न करे, तो इन्द्रियों का काम करना और न करना एक समान ही है। इस अवस्था में संसार से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता हो ऐसी बात नहीं। संसार जैसे छायामात्र रह जाता है।

ठाकुर की इसी अवस्था को मास्टर महाशय ने देखा। यह हम लोगों के लिए चिन्तन का विषय है, क्योंकि इस प्रकार की अवस्था से हम लोग परिचित नहीं हैं। लौकिक जीवन में हम देखते हैं कि कभी कभी किसी विषयविशेष में मन के डूब जाने से मनुष्य अन्यमनस्क हो जाता है। लेकिन वहाँ उसका मन किसमें डूबा हुआ है, यह हम समझ सकते हैं। एक व्यक्ति की बात है। उसने हमें सुनाया था कि वह जब व्यवसाय में लगा, तो उसमें उसका मन इतना डूब

गया कि वह बाहरी व्यवहार तो करता था, पर ऊपरी मन से। उसका मन व्यवसाय में और व्यवसाय की समस्याओं में एकदम डूब गया। उसके मित्रगण कहते, "तुमसे बातें करके हमें कोई सुख नहीं मिलता। तुम्हारा मन जाने कहाँ लगा रहता है। हम लोग बातें करते रहते हैं और तुम न जाने कहाँ खोये रहते हो।" यह है अन्यमनस्कता। इसे हम लोग समझते हैं। संसार के किसी एक विषय में डूब जाने से मन इसी प्रकार अन्य विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाता है। यह मनुष्यों को होता है। किन्तु यहाँ पर ? यहाँ पर तो मन के उस विषय का ही पता नहीं चलता, जो मन को इस प्रकार खींच रखता है कि किसी बाहरी वस्तु का अनुभव ही नहीं करने देता। उस विषय के साथ हमारा परिचय नहीं है। अभिनिवेश तो हम समझ सकते हैं। मन का अभिनिवेश इस स्तर तक हो सकता हैं कि मनुष्य बाह्यजगत् के सम्बन्ध में, इन्द्रियों के विषयों के सम्बन्ध में पूर्णतया उदासीन हो जाए। इसका एक दृष्टान्त मुझे स्मरण हो आ रहा है। सर जगदीशचन्द्र बोस के एक छात्र ने यह घटना हमें बतायी थी। तब वे स्वयं उच्च शिक्षा प्राप्त होकर एक बड़े सरकारी पद पर प्रतिष्ठित थे। वे एक दिन सर जे. सी. बोस से मिलने उनके घर गये। उनके घर में उनका निर्बाध प्रवेश था। पता चला कि सर बोस ऊपर छत पर हैं। छत के ऊपर गमलों में पौधे लगे हुए थे, वहीं वे बैठे हुए थे। ये छात्र जाकर सामने खड़े हो गये। देखा कि सर बोस को कोई सुध नहीं है। बड़ी देर तक खड़े रहे। ध्यानमग्न ऋषि के ध्यान को तोड़ने की उनकी इच्छा नहीं हुई। बहुत समय बाद जब सर बोस को भान हुआ, तो वे बोल उठे – "ओह, तुम! कब आये ?" "बहुत देर से।" "तो मुझे पुकारा क्यों नहीं ?" छात्र ने कोई उत्तर नहीं दिया। इस प्रकार का अभिनिवेश हमारी समझ में आता है। चाहे वह किसी पौधे में हो, चाहे प्रकृति के किसी रहस्य को लेकर हो, या फिर संसारी मनुष्य का मन जिससे आकर्षित होता हो ऐसे धनोपार्जन को लेकर हो। इस सब का आकर्षण तो हम समझते हैं, पर यहाँ पर आकर्षण का विषय जनसाधारण की दृष्टि में पकड़ में नहीं आता। ठाकुर की इस अवस्था का वर्णन 'वचनामृत' में हम और भी पढ़ेंगे।

ठाकुर की यह अवस्था अनेक बार हुआ करती थी। उनके मन की

अवस्था अनेक बार ऐसी हो जाया करती थी कि वह संसार के विषयों में किसी प्रकार उतर नहीं पाता था। इस सन्दर्भ में एक घटना का उल्लेख करता हूँ। ठाकुर बागबाजार-स्थित बलराम बोस के घर पधारे हुए थे। उनके दर्शन के लिए नरेन्द्र आदि अनेक युवकभक्तों का समागम हुआ था। अतीन्द्रिय विषयों की अनुभूति के प्रसंग में अणुवीक्षण यन्त्र की बात चल पड़ी। स्थूल आँखों से जिन बहुत सी सूक्ष्म वस्तुओं और जीवाणुओं को देखा नहीं जा सकता, उन्हें इस यन्त्र की सहायता से देखा जा सकता है। यह सुनकर ठाकुर ने इस यन्त्र की सहायता से दो-एक वस्तु देखने की इच्छा प्रकट की। पूछताछ करने पर पता चला कि उन युवकभक्तों में से किसी एक के मित्र के पास एक अणुवीक्षण यन्त्र है। वह डॉक्टर था। मेडिकल की परीक्षा में हाल ही में वह विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण हुआ था इसलिए मेडिकल कॉलेज की ओर से सम्मानपूर्वक उसे वह यन्त्र पुरस्कार में मिला था। उसे सूचना दी गयी। तब वह स्वयं यन्त्र को लेकर आया। उसने सब ठीक-ठाक करके ठाकुर को देखने के लिए बुलाया। ठाकुर उठे, देखने के लिए आगे बढ़े, पर बिना देखे ही लौट पड़े। उनके इस प्रकार लौट पड़ने का कारण पूछने पर उन्होंने कहा, "मन इस समय इतना ऊपर उठा है कि उसे खींचकर नीचे की ओर नहीं ला पा रहा हूँ।" अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से देखने के लिए मन को जिस स्तर तक नीचे उतारना होगा, वहाँ तक ठाकुर उतार नहीं पाये। उनका मन किसी भी प्रकार नीचे नहीं उतरा, फलस्वरूप उनका देखना भी सम्भव नहीं हो पाया।

ऐसा था ठाकुर का मन! वह स्वाभाविक रूप से ऊर्ध्वगामी था, जगदतीत तत्त्व की ओर गया हुआ था। उस मन को बलपूर्वक खींचकर उन्हें निम्न धरातल पर रखना पड़ता था। इसकी क्या आवश्यकता थी ? उन्हें अपने लिए तो कोई आवश्यकता नहीं थी, फिर भी वे मन को क्यों खींचकर नीचे रखते थे ? — हमारे लिए। वे इन्द्रियातीत आनन्द का पता हम सब को देना चाहते थे। इसीलिए अपने समाधि के आनन्द की भी उन्होंने उपेक्षा कर दी थी। वे कहते,"माँ, मुझे बेहोश न कर। मैं इन लोगों से बातें करूँगा।" क्या आवश्यकता थी उनको बातें करने की ? वे तो आनन्द में विभोर थे। जो "आत्मरतिः", 'आत्मतृप्तः' और 'आत्मनि एव सन्तुष्टः' थे, वे हमारे लिए इतने

व्याकुल हो गये कि माँ से प्रार्थना करते हैं, "माँ, मुझे बेहोश न कर, मैं इन लोगों से बातें करूँगा।" और बातें उन्होंने कीं! तभी तो आज 'वचनामृत' पृथ्वी में सर्वत्र परोसा जा रहा है। ठाकुर के मन की तो अतीन्द्रिय तत्त्व की ओर सहज गति थी। उस मन को वे बाँध-छाँदकर हमारे लिए नीचे खींच लाते थे। उन्हें बारम्बार समाधि होती थी। इससे वे असन्तुष्ट हो उठते थे कि यह समाधि उन्हें भक्तों से बातें नहीं करने दे रही है। जिस समाधि के लिए ऋषि-मुनि जन्म-जन्मान्तर से साधना करते रहते हैं, तपस्या करते रहते हैं, वह समाधि उनके पास बारम्बार आती है, पर वे उनकी उपेक्षा करते हैं, उनसे असन्तुष्ट हो उठते हैं – "यदि मैं इस प्रकार समाधि में मग्न रहूँ, तो मेरे आने की सार्थकता ही क्या?"

ठाकुर ने प्रसंग को कहानी के माध्यम से समझा दिया। तीन मित्र मैदान में घूमने गये। घूमते घूमते देखते हैं कि ऊँची दीवाल से घिरा एक स्थान है। उसके भीतर से गाने-बजाने की मधुर ध्वनि आ रही है। उनकी इच्छा हुई कि देखें, भीतर क्या हो रहा है। उनमें से एक किसी प्रकार कहीं से एक बाँस की सीढ़ी ले आया। वह सीढ़ी लगाकर दीवाल पर चढ़ गया। भीतर झाँकने पर उसने जो कुछ देखा, उससे इतना आनन्दविभोर हो गया कि हँसते हँसते भीतर कूद पड़ा। तब दूसरा मित्र ऊपर चढ़ा और वह भी उसी तरह अपने को न सम्हाल पाकर हँसते हँसते नीचे कूद पड़ा। तब तीसरा मित्र भी सीढ़ी के सहारे ऊपर चढ़ा। उसे भी भीतर का वह आनन्दमेला दिखाई पड़ा। पहले तो उसकी भी इच्छा हुई कि वह भी उस आनन्द में सम्मिलित हो जाए। पर तुरन्त सोचने लगा कि यदि मैं भी उसमें सम्मिलित हो जाऊँ, तब तो बाहर के लोग नहीं जान पाएँगे कि यहाँ ऐसी आनन्द की जगह है! क्या मैं अकेले ही इस आनन्द का उपभोग करूँ? ऐसा सोचते हुए वह बलपूर्वक अपने मन को लौटाकर नीचे उतर आया और जो भी उसे मिले, उसी से कहने लगा – भाई, सुनो, यहाँ आनन्द से भरी एक जगह है। चलो, सब मिलकर उसका उपभोग करें।

यह तीसरा मित्र स्वयं ठाकुर हैं, जो अकेले आनन्द का उपभोग करने नहीं आये हैं, बल्कि उस अक्षय आनन्दभण्डार को हम सब के लिए उन्मुक्त कर देने आये हैं। इसीलिए उन्हें अपने समाधिसुख की भी उपेक्षा करनी पड़ रही

है। यह ठाकुर का ध्यान देने योग्य वैशिष्ट्य है, जिसे हमें स्मरण रखना होगा।

## ठाकुर का मानवप्रेम

'लीलाप्रसंग' में ठाकुर के जीवन का विश्लेषण करते हुए बहुत सी बातों की चर्चा हुई है। उनमें से एक यह है : ठाकुर के जीवन की हर घटना के पीछे एक ही उद्देश्य दिखता है। वह क्या है? 'जगत्-कल्याण', 'संसार को शिक्षा' – सब कुछ दूसरों के लिए, अपने लिए कुछ भी नहीं। इसे समझने के लिए हमें बड़ी बारीकी से उनके जीवन का अनुशीलन करना होगा। हम विशेष कुछ तो नहीं समझ सकते, पर इतना हमारी समझ में आता है कि वे जो इच्छामात्र से समाधि में निमग्न होकर रह सकते थे, हम लोगों के लिए अपने समाधिसुख की भी इस प्रकार उपेक्षा कर देते हैं। जगन्माता से झगड़ा करते हैं, "माँ, तू मुझे बेहोश क्यों कर रही है, मैं इन लोगों से बातें करना चाहता हूँ!" वे जानते थे कि ईश्वर के सम्बन्ध में हम लोगों में घोर अज्ञानता है। या तो हम संसार के साधारण सुखों में निमग्न हैं, या फिर दुःख से कातर होकर हाय-हाय कर रहे हैं। इस सुखदुःख से पार जाने का पथ दिखाने के लिए ही ठाकुर के प्राण व्याकुल थे। केवल अपने ही नहीं, अपितु उनके समस्त पार्षदों के प्राण भी तदनुरूप व्याकुल हों, इसके लिए उन्होंने चेष्टा की थी और अपने पार्षदों को उसी प्रकार तैयार किया था। नरेन्द्रनाथ समाधि में डूब जाना चाहते थे। उनकी भर्त्सना करते हुए ठाकुर ने कहा था, "छिः छिः, तू इतना बड़ा आधार और तेरे मुँह से ऐसी बात! कहाँ तू एक विशाल वटवृक्ष की तरह होगा, जिसकी छाया में हजारों लोग आश्रय पाएँगे, और कहाँ तेरी यह हीन बुद्धि! केवल अपनी मुक्ति की चाह! यह कैसी अत्यन्त तुच्छ बात तेरे मुँह में? नहीं, अपनी दृष्टि इतनी छोटी मत बना।"

ऐसी ही बात ठाकुर ने श्रीमाताजी से भी कही थी, "देखो, कलकत्ते के लोग मानो अँधेरे में कीड़े की तरह कुलबुला रहे हैं, तुम उन लोगों की ओर देखना।"

उनका जीवन हम लोगों के लिए समर्पित था और जो लोग उनके लीलासहचर के रूप में आये थे, उनमें से प्रत्येक को ही उन्होंने "जगद्धिताय" मन्त्र से उद्बुद्ध किया था। कहा था, "तुम्हारे जीवन का जो आनन्द है, उस असीम आध्यात्मिक आनन्द को अकेले ही भोगने के लिए तुम संसार में नहीं

आये हो। तुम आये हो इस संसार को उस आनन्द का पता बताने के लिए।" यही ठाकुर के जीवन की मौलिक विशिष्टता है। उन्होंने अपने लिए कुछ भी नहीं किया – जो किया वह संसार के सब लोगों के लिए किया। और उनका वह करना क्या था? मनुष्यों को दुःख-कष्टों से पार ले जाना। जो आनन्द उनके लिए अज्ञात है, उसका पता बता देना, और केवल पता बता देना ही नहीं, अपितु हाथ पकड़कर वहाँ तक पहुँचा देना। वे कहते थे, "जो करने का है, वह मैंने कर दिया है। तुम लोगों को और अधिक कुछ करना नहीं होगा, यह प्रकाश देखते हुए चले आओ।" कहते थे, "परोसे हुए भोजन में बैठ जाओ, रसोई-वसोई सब तैयार है।" उन्होंने कुशल गृहिणी की भाँति भोजन पकाकर रख दिया है और थाली परोस दी है। हमें अब केवल भोजन करने बैठना है, ग्रास उठाकर मुँह में ले जाना है। आग जला दी गयी है, अब केवल तापना है। जिसको जो आवश्यक है, वह सब मानो उन्होंने पहले से तैयार करके रख दिया है और पुकारकर कह रहे हैं, "तुम लोग आओ, आकर इस आनन्द का उपभोग करो।" और केवल पुकारते ही नहीं, रास्ता भी दिखाते हैं, उत्साह बढ़ाते हैं, शक्ति देते हैं, मार्ग की समस्त विघ्न-बाधाओं को मानो अपने हाथों से हटा देते हैं। और यह सब वे मात्र दो-चार व्यक्तियों के लिए ही नहीं करते, केवल अपने सामने के कुछ पार्षदों के लिए ही नहीं करते, अपितु संसार के समस्त लोगों के लिए करते हैं। पहले ही कहा है कि उन्होंने अपने पार्षदों को इस प्रकार गढ़ा, जिससे वे उनके इस मिशन को, उनके जीवन के इस उद्देश्य को पूरा करने में सहायक बनें।

उन्हें उनकी स्थूल देह के रहते जितना क्रियाशील देखा गया, उसकी अपेक्षा सैकड़ों नहीं, हजारों नहीं, लाखों गुना क्रियाशील वे आज हैं। अशरीरी होकर समस्त जगत् में वे जो कार्य कर रहे हैं, उसका तो मात्र आभास ही हम आज पा रहे हैं। स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा है – कालान्तर में जो होगा, उसका आभास मात्र अभी हम पा रहे हैं; पूरा चित्र अभी हम लोगों के सामने नहीं है। वही मानो क्रमशः स्पष्ट होता जा रहा है और उनके इस क्रमिक प्रस्फुटन का आभास हम लोग पा रहे हैं। देखकर हमें आश्चर्य होता है, हम अवाक् हो जाते हैं और सोचते हैं कि कालान्तर में न जाने कितना होगा!

□ □ □

# २. द्वितीय दर्शन

(वचनामृत १।२।१ : २८ फरवरी १८८२)

पहली मुलाकात के बाद विदा लेते समय मास्टर महाशय से ठाकुर ने कहा, "फिर आना।" इस प्रथम दर्शन के बाद से ही उनको लगने लगा कि भले ही ठाकुर का रहन-सहन साधारण व्यक्ति की भाँति है, तथापि उनकी प्रत्येक बात में से, प्रत्येक आचरण में से उनका असाधारणत्व प्रगट हो रहा है।

इन्हीं के सम्बन्ध में तो वृन्दा दासी ने कहा था, "अरे बाबा, किताब-विताब! सब तो उनके मुँह में है!" इसीलिए मास्टर महाशय सोच रहे हैं कि बिना पढ़े-लिखे इतना ज्ञान कैसे होता है?

और एक बात; बात बहुत छोटी होते हुए भी विशेष तात्पर्यपूर्ण है। मास्टर महाशय कह रहे हैं, "कैसा आश्चर्य है! फिर से आने की इच्छा हो रही है!" यह जो आकर्षण मास्टर महाशय अनुभव कर रहे हैं, इस अज्ञात आकर्षण से उनका सम्यक् परिचय नहीं है।

यह आकर्षण जिसका परिचय हम लोग 'वचनामृत' और 'लीलाप्रसंग' में पाते हैं, ठाकुर के अन्तरंग भक्तों में अनेकों ने अनुभव किया है। उस दुर्निवार आकर्षण की उपेक्षा करने की क्षमता उनमें नहीं थी। ठीक इसी प्रकार के एक आकर्षण का अनुभव मास्टर महाशय ने किया। इसीलिए कह रहे हैं, "उन्होंने भी कहा है 'फिर आना'। सो कल या परसों सुबह फिर आऊँगा।" यदि ठाकुर 'फिर आना' न भी कहते, तो भी मास्टर महाशय को आना ही पड़ता — ऐसा है वह दुर्निवार आकर्षण!

इसके बाद है दूसरे दिन की बात। मास्टर महाशय ठाकुर का दूसरी बार दर्शन करते हैं। सुबह के आठ बजे हैं। ठाकुर हजामत बनवाने के लिए बैठ रहे हैं। फिर भी मास्टर महाशय को देखकर बोले, "तुम आ गये? अच्छा, यहाँ बैठो।' ठाकुर हजामत बनवाएँगे और वहीं पर मास्टर महाशय के समान एक प्रायः अपरिचित व्यक्ति बैठे रहेंगे, यह शिष्ट समाज में कुछ अशोभनीय

प्रतीत होता है। लेकिन ठाकुर के पास किसी प्रकार की औपचारिकता नहीं है। वे हजामत बनवाते हुए ही मास्टर महाशय से वार्तालाप कर रहे हैं।

मास्टर महाशय ठाकुर की वेश-भूषा का वर्णन करते हैं। "देह पर मोलस्किन की चादर है, . . . पैर में स्लीपर और मुख पर हँसी है। बात करते समय थोड़ा तुतलाते हैं।" मोलस्किन माने एक प्रकार का गरम कपड़ा। बेलुड़मठ में रहते समय इस कपड़े का एक टुकड़ा हम लोगों को देखने को मिला था। ठाकुर हँसमुख थे और थोड़े तोतले थे। जो लोग ठाकुर के संस्पर्श में आये थे, वे बताते थे कि यह जो ठाकुर 'थोड़े तोतले' थे, यानी बात करते समय कुछ हकलाते थे, उससे उनकी बातें और भी मीठी लगती थीं। मास्टर महाशय को देखकर ठाकुर प्रश्न करते हैं, "कहो जी, केशव * कैसा है?"

## केशव और ब्राह्मसमाज

केशव के साथ मास्टर महाशय का जो परिचय था, उसे ठाकुर के जानने की कोई बात नहीं है। यह हो सकता है कि उन दिनों के शिक्षित समाज में ऐसा कोई न रहा होगा, जो केशव को न जानता हो। केशव की असाधारण वाग्मिता, उनका नवीन धर्ममत और उस धर्ममत के पक्ष में उनकी युक्तिपूर्ण व्याख्या – इस सब ने उस समय के नवशिक्षित समाज पर प्रबल प्रभाव डाला था।

ठाकुर ने अपनी अन्तर्दृष्टि से मास्टर महाशय के अन्तःकरण को ठीक उसी तरह देख लिया था, जैसे काँच की आलमारी में रखी वस्तुएँ बाहर से स्पष्ट देख ली जाती हैं। अतः ठाकुर यह समझ गये थे कि केशव के साथ मास्टर महाशय का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आगे चलकर हम इस बात का परिचय पाएँगे कि ठाकुर और केशव एक दूसरे को किस दृष्टि से देखते थे। यद्यपि दोनों के मत में पर्याप्त अन्तर था, फिर भी ठाकुर केशव से अत्यधिक स्नेह करते थे और केशव भी ठाकुर के प्रति अत्यन्त अनुरक्त थे।

ठाकुर मूर्तिपूजा करते थे, और इस 'पौत्तलिकता' का – यानी गुड़ियों के खेल का – विरोध ही ब्राह्मसमाज का प्रधान आन्दोलन था। ठाकुर सनातन

* केशवचन्द्र सेन – ब्राह्मसमाज के नेता।

धर्म के सारे अनुशासन मानते थे; और सनातन धर्म को न मानना ही ब्राह्मसमाज का धर्म था। लेकिन इन समस्त मतभेदों का अतिक्रमण कर वे दोनों एक दूसरे के प्रति अद्भुत रूप से आकृष्ट थे।

जिन ठाकुर ने माँ (जगदम्बा) के पास कभी किसी पार्थिव वस्तु के लिए प्रार्थना नहीं की, वे ही केशव की बीमारी के समय माँ के पास नारियल-चीनी की मनौती मानते हैं। बहिरंग दृष्टि से देखने पर तो तब हम समझ नहीं पाते थे कि ठाकुर और केशव सेन को बाँधनेवाला वह प्रेमसूत्र कहाँ है। पर इतिहास के साक्ष्य में आज हम देखते हैं कि जिस प्रयोजन के लिए ठाकुर का आना हुआ था, केशव उसके सहायक थे। हम बाद में देख पाते हैं कि केशव के माध्यम से ही ठाकुर उस समय के 'यंग बेंगॉल' से परिचित हुए। यहाँ तक कि अन्तरंग त्यागी शिष्यों में से अधिकांश का ठाकुर से परिचय इसी माध्यम से हुआ।

यह अवश्य है कि इस समाज के अनेक लोग ठाकुर के साथ समाज की घनिष्ठता को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। यहाँ तक कि जब एक बार नरेन्द्रनाथ की खोज में ठाकुर ब्राह्मसमाज की प्रार्थनासभा में जा पहुँचे और वहाँ उन्हें समाधि लग गयी, तो समाज के कुछ लोग बत्ती बुझाकर अँधेरा कर देने में भी कुण्ठित नहीं हुए।

यह बात हम किसी सम्प्रदाय पर कटाक्ष करने के उद्देश्य से नहीं कह रहे हैं, अपितु इतिहास में यह सब घटना जिस प्रकार घटित हुई उस पर दृष्टि रखते हुए कह रहे हैं। फिर कटाक्ष करने का तो यहाँ पर कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि स्वयं ठाकुर ने 'आधुनिक ब्रह्मज्ञानियों को प्रणाम' कहकर उनके प्रति प्रणाम ज्ञापित किया है। यहाँ तक कि नरेन्द्रनाथ के मना करने पर भी समाज की वेदी को यह कहते हुए प्रणाम किया है कि 'जहाँ भगवान् की चर्चा होती है, वह स्थान अत्यन्त पवित्र होता है।' जो हो, जिस ब्राह्मसमाज के साथ ठाकुर का ऐसा सम्बन्ध था, उसके साथ मास्टर महाशय का भी सम्बन्ध है, यह बात ठाकुर ने या तो अपनी अन्तर्दृष्टि से देख ली थी या फिर सामान्य बुद्धि से समझ ली थी।

## श्रीरामकृष्ण – संन्यासी और गृहस्थ के आदर्श

इसके पश्चात् ब्राह्मनेता प्रतापचन्द्र मजुमदार के भाई की बात उठी। उन्होंने ठाकुर के पास रहने की इच्छा व्यक्त की थी, पर ठाकुर ने उनका तिरस्कार करते हुए, स्त्री–पुत्र के प्रति अपने दायित्व को निभाने के लिए उन्हें लौटा दिया था। इसी प्रकार उन्होंने प्रताप हाजरा नामक एक और व्यक्ति की भी माँ और स्त्री–पुत्र के प्रति अपने कर्तव्य की उपेक्षा करने के कारण भर्त्सना की थी। अब इस बात को बहुत से लोग ठीक से समझ नहीं पाते हैं कि जो ठाकुर 'त्याग के मूर्तिमान विग्रह' हैं, जो अपने संन्यासी–शिष्यों को संसार की हवा से दूर रहने के लिए बार बार उपदेश देते हैं, वे ही फिर कैसे संसारत्याग करने के इच्छुक किसी किसी भक्त की भर्त्सना कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में किसी किसी भक्त के प्रश्न के उत्तर में ठाकुर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिन लोगों ने संसार में गार्हस्थ्य धर्म का स्वीकार किया है, उनके लिए सांसारिक कर्तव्यों की उपेक्षा करना उचित नहीं है। वे लोग त्याग करें मन से। लेकिन जो संन्यासी हैं, वे लोग भीतर और बाहर दोनों प्रकार से त्याग करें।

यहाँ पर कोई सोच सकते हैं कि ठाकुर ने यह जो मन से त्याग करने की बात कही, उससे ऐसा लगता है कि उन्होंने अपने आदर्श को जरा शिथिल कर दिया। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है।

कारण यह है कि ठाकुर का आगमन मात्र मुट्ठी भर संन्यासियों के लिए नहीं हुआ था। वे आचार्य हैं, जगद्गुरु हैं। उनके उपदेशों का सर्वजन–उपयोगी होना आवश्यक है। जो जिस अवस्था में है, उसे उसी अवस्था से चरमलक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग दिखा देना होगा। तभी तो वे ईश्वरावतार होंगे, तभी तो जीवों के कल्याण के लिए उनका देहधारण होगा। क्या संन्यासी, क्या गृहस्थ, वे सभी के आदर्श हैं। उनमें सभी अपने अपने आदर्श की अभिव्यक्ति देख पाते हैं।

इसलिए जब वे एक ओर संसार को स्वीकार करते हैं, तो माँ की सेवा करते हैं, पत्नी को सहधर्मिणी के रूप में अपने समीप रखते हैं, और तब भी वे संन्यासी–सन्तानों के समक्ष त्याग की ज्वलन्त मूर्ति हैं! एक ही आधार में जो यह त्यागी और गृहस्थ का आदर्श है, यही ठाकुर का वैशिष्ट्य है। उपनिषद्

कहता है – 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' – त्याग के द्वारा कोई कोई अमृतत्व प्राप्त कर सकता है। इससे सन्तुष्ट न हो स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा है – 'त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः' – एकमात्र त्याग के द्वारा ही अमृतत्व प्राप्त होता है, अन्य उपाय से नहीं। सोचा जा सकता है कि तब तो अमृतत्व पर मात्र संन्यासियों का अधिकार है। ठाकुर कहते हैं, "ऐसा क्यों ?" देखना होगा कि असली त्याग कौनसा है। असली त्याग है मन से त्याग, भीतर से त्याग। यदि यह कोई कर सका, तो वही सच्चा त्याग होगा।

यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि तब तो संन्यासियों के लिए भी मन से त्याग होने से काम चल जाएगा, फिर उनके बाहरी त्याग की क्या आवश्यकता है ? यहाँ इस बात को भूलना उचित नहीं होगा कि संन्यासियों का जीवन आदर्शस्वरूप है, इसीलिए उनके लिए भीतर और बाहर दोनों प्रकार का त्याग है।

तो फिर गृहस्थ के लिए यही विधान ठाकुर क्यों नहीं देते ? इसलिए कि वह जिस आश्रम में है, उस आश्रम में उसका यही आदर्श है, एकमात्र यही अनुसरणयोग्य पथ है। इस बात को भूलकर यदि हम लोग आश्रम का विचार न करते हुए त्याग के आदर्श को अविवेकपूर्वक ग्रहण करने की चेष्टा करें, तो इसका क्या परिणाम हो सकता है, वह बौद्ध धर्म ने दिखा दिया है।

### बौद्ध धर्म का दोष

बौद्ध धर्म में सब के लिए त्याग के आदर्श पर इतना अस्वाभाविक जोर दिया गया कि सब को ऐसा लगा कि संन्यास छोड़कर अन्य कोई मार्ग नहीं है। परिणाम यह हुआ कि हजारों लोग अविवेकपूर्वक संन्यासी हो गये। और उसका जो परिणाम हुआ, उसका इतिहास साक्षी है। स्वभाव को देखते हुए जो संन्यास के अधिकारी नहीं थे, वे भी एक दूसरे की देखादेखी उस पथ पर चल पड़े; फलस्वरूप वे आदर्श को विकृत कर बैठे और अधःपतित हो गये। इसलिए ठाकुर सावधान कर देते हैं; स्वामीजी भी सावधान कर देते हैं कि पात्रता का बिना विचार किये संन्यासग्रहण हमारा आदर्श नहीं है। आध्यात्मिक जीवन में जैसे संन्यासी का स्थान है, वैसे ही गृहस्थ का भी।

संन्यासी और गृहस्थ के सन्दर्भ में 'कर्मयोग' के एक अध्याय में चर्चा करते हुए स्वामीजी ने कहा है कि जब मनुष्य भिन्न भिन्न पथ से चलकर अपने

चरमलक्ष्य तक पहुँचते हैं, तब भले ही पथ भिन्न भिन्न होते हैं, पर लक्ष्य भिन्न भिन्न नहीं होता। लक्ष्य तो एक ही है, दोनों एक ही जगह पहुँचते हैं, केवल चलते समय उनके पथ में भिन्नता दिखाई देती है।

एक बार स्वामी सारदानन्दजी के पास आकर एक व्यक्ति ने कहा कि वह संसार का त्याग करना चाहता है। उस समय हम वहाँ उपस्थित थे, सुन रहे थे।

स्वामी सारदानन्द बोले, "बेटा, तुम तो संसार का त्याग करोगे। पर मैं तो अभी तक नहीं कर सका। देखो न, कितना जकड़ा हुआ हूँ। एक समय एक कपड़े में उत्तर भारत का भ्रमण किया, ठण्डी जगह में भी एक ही कपड़ा था। पर अभी देखो न, कितना लपेटा हुआ हूँ। त्याग भला कहाँ हुआ ?" उस समय ठण्ड के दिन थे, इसीलिए उनके शरीर पर कुरते-चादरें आदि गरम कपड़े थे। फिर वात की तकलीफ के कारण वे कुछ ज्यादा ही गरम कपड़े उपयोग में लाते थे।

तात्पर्य यह कि जब तक शरीर है, तब तक उसको स्वस्थ रखने के लिए उसकी बहुत सी आवश्यकताओं को पूरा करना पड़ता है। इसलिए शरीर के प्रति हमारा एक कर्तव्य है। इसी प्रकार आत्मीय-स्वजनों के प्रति, देश के प्रति, विश्व के प्रति कर्तव्य है। इतने कर्तव्यों के रहते हुए हम जो कहते हैं कि मैं सब त्याग दूँगा, यह क्या इतना सहज कार्य है ? तो, क्या कर्तव्यों के बन्धन से हमारी मुक्ति नहीं है ? ठाकुर ने इसका भी उत्तर दिया है, कहा है – रिहाई है, यदि कोई पागल हो जाए, तब उस पर कोई कानून नहीं चलता! गीता में भगवान् ने कहा है –

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ (३.१७)

– जो व्यक्ति आत्मा से ही प्रेम करता है तथा आत्मा में ही तृप्त एवं आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसके कोई कर्तव्य नहीं है। जब तक मैं एक व्यक्ति हूँ, समाज की एक इकाई हूँ, तब तक कर्तव्य के हाथ से मेरा छुटकारा नहीं है। यदि मैं अपने व्यक्तित्व को पूरी तरह से मिटा सकूँ, तो – 'तस्य कार्यं न विद्यते' – मेरा और कोई कर्तव्य नहीं रह जाएगा।

क्या सभी संन्यासी अपने 'मैं' को मिटा सके हैं ? यह जब तक नहीं कर सकते, तब तक वे भी कर्तव्य से मुक्त नहीं हैं। कौन अपनी छाती पर हाथ रखकर कह सकता है कि हमने अपने 'मैं' का नामोनिशान मिटा दिया है ?

यह एक स्वविरोधी बात है, जिसका खण्डन हमारे अपने ही शब्दों के द्वारा हो रहा है। जो हो, कर्तव्य के हाथ से छुटकारा नहीं है। व्यक्ति ने अपना जो कर्तव्य स्वीकार किया है, या जो कर्तव्य उस पर न्यस्त हुआ है, उसका उसे अचूक रूप से, निर्लिप्त होकर पालन करना पड़ेगा। और जो जितनी ही पूर्णता एवं निर्लिप्तता से उसका पालन कर सकेगा, वह उतना ही शीघ्र इस बन्धन से मुक्त होगा। ठाकुर का यह अन्तिम उपदेश प्रताप के भाई के प्रसंग में दिया गया था। इस उपदेश का चरम निष्कर्ष हुआ – कर्तव्य को तब तक अस्वीकार करने से नहीं चलेगा, जब तक हमारा 'मैं' पूरी तरह से लुप्त नहीं हो जाता। इसीलिए कहा कि जब कोई भगवान् के लिए पागल हो जाता है, तब उस पर कोई कानून नहीं चलता।

इस अध्याय की परिसमाप्ति के समय हमें इस बात का स्मरण रखना होगा कि हम लोगों को प्रताप के भाई की तरह होने से नहीं चलेगा, क्योंकि वह पलायनवादी था, कर्तव्य से भागना चाहता था। इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं, "सब 'उनका' हैं – इस ज्ञान से संसार करो; संसार के भीतर उनको देखने की चेष्टा करो; उनका संसार है – इसे अनुभव करने की चेष्टा करो।" यदि यह न कर सके, तो हम लोगों को बड़े घर की नौकरानी के समान विचार करना पड़ेगा कि उन्हीं ने हमें यह दायित्व देकर रखा है। यह भार उन्हीं का दिया हुआ है, यह समझकर सब वहन करना पड़ेगा। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' – मैं यह सब कर्म करते हुए, अपना कर्तव्य करते हुए उनकी कृपा से सिद्धिलाभ करूँगा, क्योंकि इस सब के द्वारा उनकी ही पूजा की जा रही है। 'यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्' – हे प्रभु, मैं जो कुछ करता हूँ, वह सब तुम्हारी पूजा है, तुम्हारी आराधना है।

□ □ □

# ३. द्वितीय दर्शन - २

(वचनामृत १।२।२ : २८ फरवरी १८८२)

पहली मुलाकात के दिन ठाकुर के साथ मास्टर महाशय की अधिक बातचीत नहीं हुई थी। दूसरी बार जब भेंट हुई, तब ठाकुर ने मास्टर महाशय से कुछ प्रश्न किये थे। वही प्रसंग अभी चल रहा है।

मास्टर महाशय ने कहा कि जो लोग मिट्टी की मूर्ति की पूजा करते हैं, उन्हें समझा देना चाहिए कि मिट्टी की प्रतिमा भगवान् नहीं है।

इस बात से असन्तुष्ट होकर ठाकुर कह रहे हैं, "तुम कलकत्तावालों की बस यही एक बात है! केवल लेक्चर देना और समझा देना।"

ठाकुर की इन बातों में हम एक विशिष्ट उपदेश निहित पाते हैं। वे कहते हैं कि यदि अन्तःकरण में उपलब्धि न हो, तो बातों का कोई मूल्य नहीं, वे केवल बात की बात रह जाती हैं।

इसलिए कह रहे हैं, "तुम कलकत्तावालों को बस लेक्चर देना ही आता है।" यहाँ पर 'कलकत्तावाले' कहने का अभिप्राय है तत्कालीन अँगरेजी-शिक्षित लोग, जो स्वयं न समझते हुए भी दूसरों को समझाने की चेष्टा करते हैं। जिस विषय में हम कुछ नहीं जानते, उसी के सम्बन्ध में हम और भी जोरों से तर्क करते हैं। धीरे धीरे ज्ञान की गहराई के साथ साथ हम यह समझ पाते हैं कि हमारे ज्ञान का दायरा कितना-सा है।

### प्रतिमापूजा की प्रयोजनीयता

ठाकुर आगे कह रहे हैं कि यदि मिट्टी की प्रतिमा को भगवान् मानकर पूजना गलत है, तो वे जो इस विश्वब्रह्माण्ड को चला रहे हैं, क्या नहीं जानते कि इस पूजा के लक्ष्य वे ही हैं? भगवान् ने ही भिन्न भिन्न प्रकृति के लोगों के लिए उपयोगी होने की दृष्टि से इन विभिन्न प्रकार की पूजाओं को प्रचलित किया है। जिस प्रकार माँ जानती है कि किस बच्चे के लिए कौनसा खाना उपयोगी होगा, उसी प्रकार भगवान् जानते हैं कि किसके लिए कौनसा मार्ग

ठीक रहेगा। तभी तो अपना चिन्तन करने के लिए उन्होंने स्वयं इन भिन्न भिन्न साधनापद्धतियों का निर्माण किया है।

लेकिन इस बात को हम सहज में नहीं समझ सकते, क्योंकि हम लोगों की भगवान् के सम्बन्ध में कोई धारणा नहीं है। हम लोग अपनी इस बुद्धिहीनता को ढकने के लिए बड़ी बड़ी दार्शनिक बातों का उच्चारण करके शब्दजाल की सृष्टि करते हैं, जिसके भीतर सार जितना नहीं, उससे अधिक थोथी आवाज होती है। लेकिन ठाकुर के उपदेशों में ऐसी एक भी बात नहीं, जो अस्पष्ट हो, जो समझी न जा सके, जो हमारे किसी काम की न हो।

एक बार ठाकुर के साथ बातचीत करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने 'अन्धविश्वास' की बात कही। ठाकुर तुरन्त बोल उठे, "क्यों रे, विश्वास दो प्रकार का है क्या – कुछ आँखवाला और कुछ अन्धा ?" स्वामीजी निरुत्तर हो गये। ठाकुर आगे बोले, "या तो कह विश्वास, या फिर कह ज्ञान।" स्वामीजी तो प्रखर बुद्धिसम्पन्न थे, फिर भी ठाकुर के सामने उन्होंने पराजय स्वीकार कर ली!

## ईश्वर अवाङ्मनसगोचर

ईश्वर के स्वरूप को समझाते हुए हम भी ठीक इसी प्रकार कहते हैं – वह चैतन्यस्वरूप है, वह सच्चिदानन्दस्वरूप है। यह तो केवल गाल ही बजाना है। यदि कोई प्रश्न करे कि 'सच्चिदानन्द का क्या अर्थ समझते हो ?' तो बहुत हुआ तो हम कह सकते हैं – 'सत्-चित्-आनन्द।' लेकिन फिर यदि कोई प्रश्न कर दे, 'सत्-चित्-आनन्द माने क्या ?' तब हम और आगे नहीं बढ़ पाते।

श्रुति कहती है कि ईश्वर मन और वाणी के अगोचर है। अतः यह कहना कि ये शब्द उसे प्रकाशित कर सकते हैं, प्रगल्भता है, जिसे श्रुति नहीं सह सकती। जो मन और वाणी के अगोचर है, उसे चाहे जो नाम दिया जाए, उससे क्या उसे प्रकाशित किया जा सकता है ? नहीं किया जा सकता। यह बात हम लोग समझ ही नहीं पाते; और जितना ही नहीं समझते, उतना ही तर्क-वितर्क करते हैं। बहुत हुआ तो कह सकते हैं – 'सत् माने चिरस्थायी', लेकिन क्या हमने कोई चिरस्थायी वस्तु देखी है ? नहीं देखी। अब हमने जिसे कभी देखा नहीं, उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में हमें धारणा कैसे होगी ?

दार्शनिक लोग कहते हैं – "सत् माने यह कि वह असत् नहीं है। असत् माने क्या? – जो अनस्ति है, सत्ताशून्य है। चित् माने क्या? – वह अप्रकाशित नहीं है। आनन्द माने क्या? – वह दुःखरूप नहीं है।" शास्त्र भी इसी प्रकार कहते हैं – अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम्, अच्छायम् इत्यादि। लेकिन क्या इस सब के द्वारा वे क्या हैं यह बताना हुआ?

जब ऋषि याज्ञवल्क्य समझा रहे थे कि ब्रह्म क्या है, तब इसी प्रकार पहेलियों के माध्यम से समझा रहे थे कि वह दूर होकर भी पास है, उसमें गति है और नहीं भी। यह सुनकर एक ऋषि ने कहा, "इस प्रकार पहेलियाँ बुझाने से नहीं चलेगा। 'यह एक गाय है', 'यह एक घोड़ा है', ऐसा कहने से जिस प्रकार वस्तु को स्पष्ट समझा जा सकता है, उसी प्रकार समझाना होगा।" तब याज्ञवल्क्य बोले, "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयाः" – जो दृष्टि का द्रष्टा है, उसे तुम दर्शनेन्द्रिय के द्वारा जानना मत चाहो; जो श्रुति का श्रोता है, उसे श्रवणेन्द्रिय के द्वारा जानना मत चाहो। इसी प्रकार जो मन के पीछे मन्ता है, उसे मन के सहारे जानना मत चाहो। तो फिर उस वस्तु को हम जानें कैसे? और विडम्बना यह है कि उसे न जानते हुए ही हम उस पर ढेरों किताबें लिख डालते हैं!

विद्यासागर महापण्डित होकर भी भगवान् के सम्बन्ध में कोई बात नहीं कहते थे। कुछ लोगों ने उनसे पूछा, "आपने इतनी विद्या अर्जित की है, लेकिन भगवान् के सम्बन्ध में कहीं पर कुछ कहा क्यों नहीं?" उन्होंने उत्तर दिया, "अजी, मुझे चाबुक की मार से डर लगता है।" उनका आशय यह था कि जिस वस्तु को मैं स्वयं नहीं समझता, उसके सम्बन्ध में बोलने से चाबुक खाना पड़ेगा।

लेकिन फिर भी मित्रों ने छोड़ा नहीं। तब उनके जोरजबरदस्ती करने पर लाचार होकर उन्होंने 'बोधोदय' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसके प्रारम्भ में ही लिख दिया – "ईश्वर निराकार, चैतन्यस्वरूप है।" अब इस निराकार, चैतन्यस्वरूप ईश्वर की बात लिखकर उन्होंने छात्रों का क्या उपकार किया, यह तो हम नहीं जानते, पर शिक्षकों को एकदम परेशान कर दिया।

## विभिन्न उपासना-पद्धतियाँ और उपासक

उपलब्धि न होने से बात केवल कुछ शब्दों की सृष्टि करती है, जिसका परिणाम होता है चित्तविभ्रम। इसके बाद ठाकुर कह रहे हैं कि भगवान् ने ही इन विचित्र प्रकार की उपासना-पद्धतियों को रचा है – "उन्होंने ही किया है, तब तुम खुदा पर खुदाई करने क्यों जाते हो? आवश्यकता होने पर वे समझा देंगे।" अन्य स्थान पर वे कहते हैं, "बच्चा पिता को पुकार रहा है। किस ढंग से पुकारना चाहिए यह शायद वह ठीक से नहीं जानता। तो क्या उसके पुकारने पर पिता ध्यान नहीं देते? क्या पिता यह नहीं समझते कि बच्चा उन्हीं को पुकार रहा है? भगवान् क्या नहीं जानते कि मिट्टी की मूर्ति के माध्यम से लोग उनकी ही पूजा कर रहे हैं?

भागवत में तीन प्रकार की आराधना की बात कही गयी है। एक है प्रारम्भिक, जो साधारण मनुष्य पहलेपहल करता है। इस साधना को करते करते वह दूसरे सोपान में कुछ उच्चतर अवस्था में आ पहुँचता है, और तीसरी अवस्था में वह चरम लक्ष्य तक पहुँच जाता है। इन तीनों स्तरों को भागवत में क्रमशः प्रवर्तक, मध्यम और उत्तम कहा गया है। लेकिन किसी को भी अधम नहीं कहा गया। प्रवर्तक भक्त कैसा होता है? –

अर्चायाम् एव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥(११.२.४७)

– वह भगवान् की पूजा केवल अर्चा अर्थात् विग्रह में ही करता है; एक मूर्ति रख लेता है और उस मूर्ति का बड़े श्रद्धाभाव से शृंगार करता है, उसे भोग लगाता है। यह सब वह अत्यन्त श्रद्धाभाव से करता है। ऐसे भक्तों को प्राकृत या प्रवर्तक भक्त कहते हैं। प्राकृत कहने का अभिप्राय यह है कि वह प्रकृति के प्रभाव से अर्थात् अज्ञान से मुक्त नहीं है। पर हाँ, यह कहना भी कठिन है कि मुक्त कौन है।

दूसरे सोपान में कहा गया –

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥(११.२.४६)

– इस प्रकार के भक्त का भगवान् से प्रेमभाव होता है, भगवान् के अधीन

भक्तों के साथ उसकी मित्रता होती है, भगवान् के सम्बन्ध में जो अज्ञ हैं उनके प्रति उसकी कृपा होती है और जो भगवद्विद्वेषी हैं उनके विद्वेषभाव के प्रति उसकी उपेक्षा होती है। इस मध्यम भक्त के लिए कोई हेय नहीं है, कोई अवज्ञा का पात्र नहीं है। सब के साथ उसका इस प्रकार सम्बन्ध होता है कि वह सब की सहायता करना चाहता है। वह किसी की भी उपेक्षा नहीं करता। श्लोक में जो उपेक्षा की बात कही गयी है, वह विद्वेषी के विद्वेषभाव के प्रति है, व्यक्ति के प्रति नहीं।

तब फिर श्रेष्ठ भक्त कौन है? —

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥ (११.२.४५)

— भगवान् की एक मूर्ति को लेकर जो पूजा आरम्भ हुई थी, वही दृष्टि धीरे धीरे प्रसारित होती हुई भक्तों में और बाद में सर्वभूतों में जाती है — उस दृष्टि से कोई भी अछूता नहीं रह जाता। वह स्वयं के भीतर जिस आत्मा को देखता है उसी आत्मा को वह सर्वभूतों में देखता है। यहाँ सर्वभूत कहने का तात्पर्य केवल प्राणी ही नहीं, बल्कि जड़वस्तु तक को वह इसी भाव से देखता है।

श्रेष्ठ भक्ति के सम्बन्ध में भागवत में और भी कहा है: —

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥(११.२.४१)

— वह सर्वत्र भगवान् की सत्ता देखता है, सब को भगवान् का शरीर देखता है। वह देखता है कि जैसे शरीर और शरीरी अभिन्न हैं, वैसे ही जगत् और भगवान् भी अभिन्न हैं। यह हुआ श्रेष्ठ भक्त का लक्षण। वह विचार के मार्ग से नहीं, भक्तिमार्ग से जाता है, और जाते जाते ऐसी जगह पहुँचता है, जहाँ ईश्वर को छोड़ और कुछ नहीं दीखता। यह अनन्य भक्त है — 'अनन्य' माने वह जिसकी दृष्टि में भगवान् को छोड़कर और कुछ नहीं है। तब वह सर्वत्र प्रणाम करता है। इसलिए उसका व्यवहार भी वैसा ही होगा। इस विग्रह के प्रति उसका जैसा श्रद्धापूर्ण व्यवहार था, जगत् के प्रत्येक अणु-परमाणु के प्रति भी उसका व्यवहार वैसा ही होगा। यह हुआ श्रेष्ठ भक्त का लक्षण।

श्रेष्ठ भक्त के लक्षणों को देखकर यदि हम मूर्तिपूजा को हेय दृष्टि से

देखेंगे, तो परिणाम यह होगा कि हम अपनी प्रगति के मार्ग को ही अवरुद्ध कर बैठेंगे और साथ ही दूसरों की प्रगति के लिए भी कोई रास्ता नहीं रखेंगे। सीढ़ी में सब से नीचे की जो सीढ़ी है, उस पर पैर रखते हुए यदि हमें यह सोचकर संकोच का अनुभव होता हो कि यह तो एकदम नीचे है, तो छत पर पहुँचना क्या हमारे लिए कभी सम्भव होगा ? यह तो बचकानी मनोवृत्ति है। छोटें बच्चे का ऐसा स्वभाव होता है कि छोटी वस्तुओं से उसे सन्तोष नहीं होता। बड़े भाई के जूते में, पिता के जूते में पैर डालकर चलना उसे अच्छा लगता है। वह नहीं जानता कि इन जूतों को पहनने के लायक वह अभी नहीं हुआ है। हम लोगों का भी ठीक इसी प्रकार बचकाना भाव है। जिसे हम ग्रहण कर सकते हैं और जो हमारे लिए उपयोगी है, उसकी उपेक्षा करके हम ऐसी वस्तु के प्रति आकर्षित होते हैं, जिसे हम पकड़ नहीं पाते। एकदम से छलाँग लगाकर अन्तिम सीढ़ी पर नहीं पहुँचा जा सकता, धीरे धीरे एक-एक सीढ़ी चढ़कर ही आगे बढ़ना पड़ता है।

## प्रतीक और पथ

प्रतीक की सहायता के बिना कोई उस अतीन्द्रिय वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकता। भले ही वह प्रतीक मिट्टी की मूर्ति के रूप में न हो, पर वह शब्द के या अन्य किसी रूप में होगा। लेकिन शब्दप्रतीक भी तो आखिर प्रतीक ही है। प्रतीक वस्तु नहीं है, फिर भी वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रतीक की सहायता से अग्रसर होना पड़ेगा। अतएव जिसे हम निम्न स्तर की उपासना कहते हैं, वह भी वास्तव में उपेक्षा करने योग्य नहीं है, क्योंकि वह उपासना भी कुछ न कुछ लोगों को आगे बढ़ने में सहायता प्रदान करती है।

जब हम स्वयं अपने मार्ग पर नहीं चलना चाहते, तब हमारे पास दूसरों के मार्ग की निन्दा करने का पर्याप्त समय रहता है। और यदि हम अपने पथ के बारे में आस्थावान् हों और हमें उस पथ पर चलने की व्याकुलता हो, तब हमारे पास दूसरे के पथ की ओर देखकर उसकी आलोचना करने का समय नहीं रह जाता; क्योंकि तब हमारा समग्र मन यही सोचने में केन्द्रित हो जाता है कि मैं किस प्रकार अपने पथ पर आगे बढूँगा। ठाकुर कह रहे हैं, "क्या तुमने सब मार्गों की परीक्षा करके देखा है ?" सब मार्ग तो दूर की बात है,

जिस मार्ग को मैंने अपना कहकर ग्रहण किया है, उसे भी तो परीक्षा करके नहीं देखा। हममें से अनेक लोग कहते हैं कि वह सब kindergarten method है — बालवाड़ी की पद्धति है। हम लोग बड़े हो गये हैं, इसलिए बच्चों की भाँति खिलौनों में खोये रहने के लिए राजी नहीं हैं। अच्छी बात है! तो क्या लेकर रहने के लिए राजी हैं? हमने गाल बजा दिया — 'वे तो नित्य हैं, शुद्ध हैं इत्यादि।' लेकिन न तो हम यही जानते हैं कि नित्य क्या है और न यही समझते हैं कि शुद्ध कहने का क्या तात्पर्य है।

### श्रीरामकृष्ण — विभिन्न धर्मसाधनाएँ और उपलब्धियाँ

यह है साधारण मनुष्य की अवस्था। इसलिए ठाकुर कह रहे हैं, "तुम उस सम्बन्ध में क्यों बोलना चाहते हो? ईश्वर ने भिन्न भिन्न मनुष्य बनाये हैं और इन विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों के लिए उन्होंने भिन्न भिन्न मार्ग बनाये हैं। हम यदि अपने अपने मार्ग पर चलते रहें, तो धीरे धीरे सब समझ सकेंगे। ठाकुर स्वयं अपने अनुभव से इस परीक्षित सत्य को सब से कहते हैं कि सब मार्गों से चलकर उन तक पहुँचा जा सकता है। वे ही एकमात्र लक्ष्य हैं। यह बात ठाकुर इसलिए नहीं कहते कि शास्त्रों में ऐसा लिखा है, इसलिए भी नहीं कि उन्होंने वह कहीं से सुन रखी है, अपितु इसलिए कि यह उनके जीवन का अनुभूत सत्य है। 'सर्वासामपां समुद्र एकायनम्' — सब जल की गति जैसे समुद्र की ओर है, वैसे ही समस्त जीवों का आधार वे हैं, उन्हीं में जीव का अधिष्ठान है, उन्हीं में जीव का लय है। यह जैसे प्रत्येक जीव के लिए सत्य है, वैसे ही प्रत्येक धर्मपथ के लिए भी। विभिन्न धर्ममतों का अनुशीलन कर ठाकुर ने यही अनुभव किया कि उनके पथ भिन्न भिन्न होते हुए भी अन्त में सब एक ही सत्य में पहुँचते हैं।

ठाकुर के सर्वधर्मसमन्वय की यही मूल बात है। किसी ने कहा था, "धर्मों का और क्या समन्वय? धर्म क्या भिन्न भिन्न हैं? धर्म तो एक ही है।" यह बात भाषण के समय सुनने में तो अच्छी लगती है, पर धर्म एक ही है, इस बात का अर्थ क्या है? जो लोग विभिन्न धर्मों का अनुसरण करते हुए चल रहे हैं, उनसे यदि पूछा जाए तो वे कहेंगे, "यह कैसे होगा? तुम्हारा धर्म हमारा धर्म नहीं है; फिर हमारा धर्म भी तुम्हारा धर्म नहीं।"

हम लोगों की प्रकृति भिन्न भिन्न है, हमारे पीछे इतिहास भिन्न है, हम लोग शैशवकाल से अलग अलग ढंग से प्रतिपालित हुए हैं; हमारी बुद्धि भिन्न भिन्न प्रकार के सिद्धान्तों का अनुसरण करती हुई चलती है – इस भेद को तो हम लोग अस्वीकार नहीं कर सकते। लेकिन यह भेद जो हम सामने देखते हैं, उससे यह नहीं कहा जा सकता कि हम इन अलग अलग मार्गों से चलकर इन समस्त भेदों से अतीत अवस्था में नहीं पहुँच सकेंगे। जैसे एक वृत्त की परिधि से उसके केन्द्र की ओर जाने के लिए विभिन्न त्रिज्या–पथ हैं। इन पथों से होकर जिनकी केन्द्राभिमुखी गति आरम्भ होती है, उनमें एक दूसरे की दूरी पहले बहुत अधिक रहती है। लेकिन जैसे जैसे वे आगे बढ़ते जाते हैं, उनके मध्य की दूरी उतनी ही कम होती जाती है। अन्त में जब वे केन्द्र में पहुँच जाते हैं, तब उनके बीच कोई अन्तर नहीं रह जाता। यह एक उपमा है, हालाँकि इस तरह से धर्म को इतना सरल करके नहीं समझाया जा सकता; क्योंकि जिसे मैं केन्द्र कह रहा हूँ, उसके सम्बन्ध में एक की धारणा का दूसरे को कोई ज्ञान नहीं है। हम लोग परस्पर भिन्न दृष्टि से देखते हैं, दूरत्व का अनुभव लेकर चलते हैं, इसलिए पहले हमें इस बात पर विश्वास नहीं होता कि अन्त में हम एक ही जगह पर पहुँचेंगे। यदि कोई यह बात कहे, तो उस पर हम अविश्वास करते हैं। हाल में हमारे लन्दन केन्द्र के एक साधु से एक मनीषी लेखक ने कहा था, "यह जो कहा जाता है कि रामकृष्णदेव ने ईसाई मत की साधना की थी, या कि वे इस्लाम मत को अंगीकार करके चले थे, वह उनकी व्यक्तिगत कल्पना है।" अर्थात् प्रश्न यह होता है कि जो परम्पराएँ उन मतों की रही हैं, क्या रामकृष्णदेव ने उन सब को स्वीकारा था? अब इन परम्पराओं में कुछ तो होती हैं मुख्य और कुछ गौण अर्थात् उसके डाल–पत्ते।

अतः जब हम यह कहते हैं कि ठाकुर ने ईसाई मत की साधना की थी, तब यह प्रश्न अप्रासंगिक है कि वे पूरी तरह से ईसाई मत में दीक्षित (baptised) हुए थे या नहीं, अथवा उन्होंने उस मौलिक पाप (original sin) पर विश्वास किया था या नहीं। यहाँ तो यही देखना पर्याप्त होगा कि डाल–पत्ते में न जा वे उनकी मुख्य बातों को लेकर अग्रसर हुए थे या नहीं। इस प्रसंग में एक बात याद आती है। एक ऑस्ट्रेलियावासी व्यक्ति साधु होकर

बेलुड़ मठ में नये नये आये थे। मेरे साथ उनकी बड़ी घनिष्ठता हो गयी थी। एक दिन यह दिखाने के लिए कि उन्होंने हाथ से खाना सीख लिया है, वे थाली लेकर मेरे सामने आये और थोड़ासा खाकर दिखाने के बाद थाली उठाकर चले गये। एक अन्य व्यक्ति जो मेरे पास बैठे थे, बोले, "तुमने उससे कहा नहीं कि यह स्थान जूठा हो गया ?" मैंने कहा, "देखिए, यह तो हो गया, लेकिन वह तो यह बात समझेगा नहीं, क्योंकि इस सम्बन्ध में उसके भीतर कोई संस्कार ही नहीं है।" इस पर वे बोले, "भले ही न हो। फिर भी जब वह हिन्दू-पद्धति से साधना कर रहा है, तो यह बात उसे समझा देना उचित था।" उत्तर में मैंने कहा, "यदि यही हिन्दुत्व है, तो इस तरह का हिन्दुत्व न होने से भी उसका काम चल जाएगा।" तात्पर्य यह कि हम कई बार गौण वस्तु को मुख्य बनाकर धर्म का उपहास करते हैं। स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा है, "यही सोचते हुए हमारे दिन बीत गये कि पानी के गिलास को दाहिने हाथ से उठाएँ कि बायें हाथ से।" इस बात को हम प्रायः भूल जाते हैं कि यह मुख्य वस्तु नहीं है तथा ईश्वरलाभ के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः जब हम कहते हैं कि ठाकुर ने अन्य धर्मपन्थों की भी साधना की थी, तब उससे हम यही समझते हैं कि उन्होंने उन धर्मों की मुख्य पद्धति का अनुसरण किया था। हम उनकी बातों से, उनके आचरण और उनके स्वभाव से यह बात कह सकते हैं।

उन्होंने जब जिसे ग्रहण किया, उसका जहाँ तक सम्भव हुआ बड़ी बारीकी से अनुसरण किया। इस बारीकी से अनुसरण करने में एक सार्थकता है। हम लोग युक्तिवादी बनकर अनेक बातों को गौण कहकर काट-छाँट देना चाहते हैं। जैसा कि हम लोग कहते हैं, अन्न का दाना ही असल है और उसका छिलका गौण, अतः उस छिलके को फेंककर दाने को ले लो। इसके उत्तर में ठाकुर ने हमें सावधान करते हुए कहा है, "छिलके को भी लेना होगा।" यदि छिलके को छोड़ दिया जाए, तो अन्न को बचाकर नहीं रखा जा सकता। चावल को बोने से पौधा नहीं होता, अतः धान ही बोना पड़ेगा। जो प्रथा है, वह पूरी की पूरी ही व्यर्थ नहीं है, पर इसका यह भी मतलब नहीं है कि हम प्रथा के नाम पर पोंगापन्थी को आश्रय दें। हम देखें कि हम दूसरों को बहुत अधिक

भ्रमित तो नहीं कर देते हैं। हम उसके मूलतत्त्व को कुछ समझा दें और स्वयं उसका अनुसरण करें। तत्पश्चात् धीरे धीरे सब ठीक हो जाएगा। जब हम तत्त्व में पहुँचेंगे, तब यही सत्य स्वयं अनुभव द्वारा समझ सकेंगे। ठाकुर इसी सत्य में विश्वास करते थे। उन्होंने वैज्ञानिकों के समान परीक्षा की हो सो बात नहीं। हम कई बार ठाकुर की परीक्षा को वैज्ञानिक परीक्षा के समकक्ष घोषित करते हैं। ठाकुर की प्रणाली ठीक वैसी नहीं है। वे तो कहते हैं, "माँ, तुझे अमुक भक्त लोग किस प्रकार देखते हैं, मैं भी देखूँगा।"

वे यह मानकर ही चलते हैं कि अन्य भक्त उनकी माँ को ही देखते हैं। वे उन लोगों की साधनापद्धति को जानना चाहते हैं, उसका अनुभव करना चाहते हैं। अतः माँ सब व्यवस्था कर देती हैं, सब संयोग जुटा देती हैं। इसके बाद वे अनुभव की भूमि पर दृढ़प्रतिष्ठित होकर कहते हैं कि सब प्रकार की साधना के द्वारा हम उन्हें ही पाते हैं। 'जितने मत उतने पथ' – यह सत्य उनके जीवन में इसी प्रकार परीक्षित हुआ। प्रश्न हो सकता है कि क्या सभी मतों की परीक्षा करके उन्होंने देखा था ? – नहीं, ऐसी बात नहीं है। उन्होंने सब मतों को परीक्षा करके नहीं देखा। जिसको sample survey (नमूना सर्वेक्षण) कहते हैं, ठाकुर की पद्धति को बहुत कुछ उसी प्रकार का कहा जा सकता है।

उस समय जो मत प्रचलित थे, उनको उन्होंने देखा था तथा उसके ऊपर थी उनकी लोकोत्तर दृष्टि, जिसके सामने तत्त्व अपने स्वरूप में प्रतिभासित होता था, उसे गवेषणा या विश्लेषण करके निकालना नहीं होता था। उनके शुद्ध मन के सामने से अज्ञान का आवरण हट गया था। उन्होंने देख लिया था कि विभिन्न मनुष्यों का गन्तव्यस्थल एक है। सब उपायों से उन्होंने यही देखा था कि विभिन्न पथों से चलकर सब उनकी माँ को ही देखते हैं।

वे उन्हीं को माँ कहते हैं, जो जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहार करती हैं। हम फिर से शब्द को लेकर यह कहते हुए विवाद न करें कि वे काली के उपासक थे या विष्णु के, अद्वैतवादी थे या विशिष्टाद्वैतवादी। वे यह सब तो थे ही, पर इसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ थे। स्वामीजी ने एक शब्द में उन्हें 'सर्वधर्मस्वरूपिणे' कहकर प्रणाम किया है। सर्वधर्मस्वरूप ही क्यों, वे तो विभिन्न

भावों से ईश्वरोपलब्धि करके तत्स्वरूप ही हो गये थे। धर्म जो था, जो है और जो होगा, वह सभी मानो उनके जीवन में प्रस्फुटित हो उठा था, क्योंकि उसके प्रकाशन की आवश्यकता उपस्थित हुई थी; सब समय सब के सामने वह प्रकाशित नहीं हुआ।

ईसाई ने आकर उनके भीतर ईसामसीह के प्रकाश की उपलब्धि की थी; कहा था – "आप ही ईशू हैं।" इस प्रकार और भी बहुतों ने कहा था। उनके भीतर एक ऐसे तत्त्व का प्रकाश हुआ था, एक ऐसी वस्तु की सृष्टि हुई थी, एक ऐसे दीपक का प्रज्वलन हुआ था, जिसके सहारे चाहे हम जिस दिशा में भी क्यों न देखें, अन्धकार दूर हो जाता है। ठाकुर के धर्मसमन्वय को यदि हम इस भाव से देखें, तो हम उसकी थोड़ी-बहुत धारणा कर सकेंगे।

□ □ □

# ४. द्वितीय दर्शन - ३

(वचनामृत १।२।२ : २८ फरवरी १८८२)

ठाकुर के साथ पहली मुलाकात के दिन मास्टर महाशय की कोई अधिक बातचीत नहीं हुई। यह दूसरी मुलाकात है। ठाकुर मानो मास्टर महाशय के सम्बन्ध में स्वयं अच्छी तरह से जान लेना चाहते हैं। मास्टर महाशय का विवाह हो चुका है, यहाँ तक कि बच्चे भी हो गये हैं यह सुनकर ठाकुर रामलाल से कहते हैं,"अरे! विवाह कर चुका है। अरे! बच्चे हो गये हैं।" उनके इस कथन में मास्टर महाशय मानो आक्षेप का भाव देखते हैं। इसलिए वे कुछ अटपटा-सा अनुभव करते हैं।

'वचनामृत' में हम देखेंगे कि ठाकुर इस तरह के प्रश्न सब से नहीं करते थे। इस प्रकार के प्रश्न वे केवल उन्हीं से करते, जिन्हें वे अपने अन्तरंग के रूप में अनुभव करते। मास्टर महाशय को देखकर वे प्रारम्भ से ही समझ गये थे कि एक विशेष कार्य के लिए यन्त्र के रूप में वे उनका उपयोग करेंगे। इसीलिए वे चाहते थे कि यन्त्र त्रुटिशून्य हो। मास्टर महाशय विवाह कर चुके थे, उनके सन्तान आदि भी हो गयी थी, अतः संसार के दायित्व का बोझ उनके सिर पर आ पड़ा था। ऐसी दशा में उनकी स्वतन्त्रता बहुत कुछ सीमित हो गयी थी। इसीलिए तो 'विवाह हो चुका है' यह सुनकर ठाकुर खेद प्रकट करते हैं। ऐसा नहीं कि संसार में रहकर किसी को धर्मजीवन का लाभ नहीं होगा। जिसको होना है उसे हो, लेकिन वे तो मास्टर महाशय का उपयोग पूरी तरह से अपने हाथ के यन्त्र के रूप में करना चाहते थे। वे ऐसा नहीं चाहते थे कि मास्टर महाशय थोड़ी देर उनके बनकर रहें और थोड़ी देर संसार के। ठाकुर की बातों से ऐसा ही लगता है। पर यह भी सही है कि बाद में जब मास्टर महाशय संसार से निकल आना चाहते थे, तब ठाकुर ने उन्हें मना किया। हमने देखा है कि ठाकुर ने इस सम्बन्ध में बहुतों को यही उपदेश दिया है कि जब संसार का दायित्व सिर पर आ पड़ा है, तब उसे छोड़कर भागना उचित नहीं। जब तक

वह दायित्व नहीं आया है, तब तक विचार करो, अपने को जाँचकर देखो, तौलो कि कौनसा मार्ग तुम्हारे लिए अधिक सुविधा का होगा। वे जैसे विचार न करके संसार के बन्धन में किसी का फँसना पसन्द नहीं करते थे, वैसे ही विचार करके संसार में प्रवेश करने के बाद उसे छोड़कर भागना भी पसन्द नहीं करते थे। इसीलिए हाजरा को जबरदस्ती घर भेज दे रहे हैं। नरेन्द्रनाथ हाजरा की ओर से पैरवी करते हैं तथा घर लौटने के लिए हाजरा पर दबाव न डालने की सलाह देते हैं। लेकिन ठाकुर नहीं सुनते। संसार का दायित्व जब तक है, तब तक उसकी अवहेलना करने से नहीं चलेगा। फिर ये ही ठाकुर जिन लोगों को अपनी त्यागी सन्तानों के रूप में तैयार कर रहे हैं, उनमें से किसी के विवाह करने की बात सुनते ही ऐसा अनुभव करते हैं मानो किसी ने उनके सिर पर लाठी मार दी हो।

जिनका वे अपने हाथ के यन्त्र के रूप में उपयोग करेंगे, उनको सहीसलामत होना चाहिए, पूरी तरह से उनका अपना होना चाहिए। वहाँ बटवारा होने से यन्त्र सहीसलामत नहीं रहता।

### श्री 'म' के शिक्षागुरु

ठाकुर मास्टर महाशय से प्रश्न करते हैं, "अच्छा, तुम्हारी पत्नी कैसी है? विद्याशक्ति कि अविद्याशक्ति?" 'विद्याशक्ति', 'अविद्याशक्ति' – ये सब बातें मास्टर महाशय ने कभी नहीं सुनी थीं। 'विद्या' का अर्थ उन्होंने समझा पढ़ाई-लिखाई, इसलिए यह सोचा कि ठाकुर जानना चाहते हैं कि मेरी पत्नी पढ़ी-लिखी है या नहीं। साधारणतया हम ज्ञानी का अर्थ लेते हैं वह, जो बहुत पढ़ा-लिखा हो, और इसलिए जो पढ़ा-लिखा नहीं है, उसे अज्ञानी कहते हैं।

यही सोचकर मास्टर महाशय ने उत्तर दिया, "जी, अच्छी है, लेकिन अज्ञान है।" ठाकुर खिन्न होकर बोले, "और तुम ज्ञानी हो?" मास्टर महाशय ने ठाकुर से ज्ञान-अज्ञान का नया अर्थ सीखा; उन्होंने सीखा कि भगवान् को जानने का नाम ही ज्ञान है और उन्हें न जानने का नाम ही अज्ञान। ठाकुर के पास मास्टर महाशय के पाठ का यह श्रीगणेश हुआ।

मास्टर महाशय के अहंकार को चूर्ण करने के लिए ठाकुर ने मानो जान-बूझकर व्यंग्यात्मक शब्द का प्रयोग किया, क्योंकि जब तक मनुष्य के

भीतर अहंकार रहता है, तब तक उस पर उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह सोचता है कि 'अब और क्या उपदेश लूँगा? मैं क्या कम जानता हूँ?' मास्टर महाशय उन दिनों के एक उच्चशिक्षित व्यक्ति थे; लड़कों को सिखाना-पढ़ाना ही उनका काम था। इस प्रकार के मास्टर महाशय को एक निरक्षर पुजारी के चरणों में एक शिक्षार्थी के रूप में बैठना होगा, यह बात वे कभी सोच भी नहीं सकते थे। ठाकुर का उद्देश्य था मास्टर महाशय के अहंकार को चूर्ण करना। इसीलिए वे व्यंग्यात्मक प्रश्न करते हैं– "और तुम ज्ञानी हो?" इस बात से मास्टर महाशय के अहंकार को मर्मान्तक आघात लगा।

इसके बाद आया ठाकुर का एक कठिन प्रश्न। उन्होंने पूछा, "तुम्हारा विश्वास साकार पर है कि निराकार पर?"

### ईश्वर – साकार और निराकार

ऊपरी दृष्टि से इस प्रकार का प्रश्न करने का कारण समझना कुछ कठिन होगा, लेकिन थोड़ा विचार करने पर समझ में आ जाएगा कि इस प्रकार प्रश्न करने के पीछे ठाकुर का क्या उद्देश्य था। उन दिनों नवयुवकों में ब्राह्मविचारधारा का बड़ा प्रभाव था और इस समाज के सिद्धान्त के अनुसार मूर्तिपूजा अज्ञानता की पराकाष्ठा थी। इस परिप्रेक्ष्य से देखने पर ठाकुर का इस प्रकार से प्रश्न करने का कारण मिल जाएगा। प्रश्न सुनकर मास्टर महाशय सोचने लगे कि क्या साकार और निराकार दोनों ही सत्य हो सकते हैं? मास्टर महाशय का विश्वास निराकार पर है, यह बात सुनकर ठाकुर बोले, "ठीक है। किसी एक पर विश्वास रहने से ही हुआ। निराकार पर विश्वास, यह तो अच्छा ही है। पर ऐसा न सोचना कि केवल यही सत्य है और बाकी सब मिथ्या। यह जान रखो कि निराकार भी सत्य है और साकार भी सत्य है।" ठाकुर ने यह बात बार बार कही है कि भगवान् के भाव की इति नहीं की जा सकती, उनका भाव अनन्त है। हम ऐसी कल्पना न करें कि वे इतना ही हो सकते हैं, इससे अधिक नहीं। बल्कि नास्तिक होना ठीक है, पर इस प्रकार की संकीर्ण बुद्धि ठीक नहीं। जो नास्तिक है, उसमें कभी आस्तिक बुद्धि आ भी सकती है, पर संकीर्णता और दुराग्रह को काटना कठिन होता है। ठाकुर का प्रथम उपदेश यहीं से आरम्भ हुआ – यह मास्टर महाशय के साथ उनके वार्तालाप का

आदिपर्व है। लेकिन ठाकुर ने जो यह कहा कि ईश्वर साकार है और निराकार भी, यह मास्टर महाशय के लिए समस्या बन गयी। मास्टर महाशय तर्कशास्त्र पढ़े हुए व्यक्ति थे। तर्कशास्त्र यही कहता है कि साकार और निराकार परस्पर-विपरीत हैं। अब ये दो विपरीत धर्म एक अधिकरण में तो रह नहीं सकते, इसलिए ठाकुर की इस बात से मास्टर महाशय कुछ भ्रम में पड़ गये। सोचने लगे, सफेद वस्तु – जैसे दूध – क्या काली भी हो सकती है?

यदि कहें कि वस्तु सफेद है, तब स्पष्ट है कि वह काली नहीं हो सकती। पर यदि हम उसमें स्याही मिला दें तब? दूध में स्याही मिलाकर उसे काला कर सकते हैं या नहीं? – कर सकते हैं, पर ध्यान रखें, यह जो रंग काला हुआ, वह उसका स्वाभाविक रंग नहीं है, अर्थात् यह उसका धर्म नहीं है। अन्य धर्म उसके साथ मिला हुआ है। दार्शनिकों के विचारों की यहीं पर समाप्ति हो जाती है कि ईश्वर यदि निराकार है, तब तो साकारभाव उस पर आरोपित है। इसी को लेकर ढेर के ढेर दर्शनशास्त्र लिख डाले गये हैं, फिर भी आज तक दार्शनिक जगत् में इसकी मीमांसा नहीं हो पायी है। और यदि भूत को देखते हुए हम भविष्य की कल्पना करें, तब तो यही कहना होगा कि इस प्रश्न का समाधान कभी नहीं होगा। कारण यह है कि हम अपनी बुद्धि के द्वारा उसे समझने की चेष्टा करते हैं, जो बुद्धि से अतीत है। पर क्या यह कभी सम्भव है? 'अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्' – जो वस्तु विचार से अतीत है, उसे कभी बुद्धि के द्वारा समझने की चेष्टा न करो। यह बात कौन कहते हैं? – वे जिन्होंने तर्क करते हुए चरम गवेषणा की है। तर्क के द्वारा जहाँ तक छान-बीन हो सकती है, वहाँ तक करके और सब देखने-सुनने के बाद वे इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि तर्क के द्वारा उन्हें समझने की चेष्टा न करो, करने से भी नहीं समझ पाओगे।

## ईश्वरतत्त्व – तर्कातीत

श्रुति बार बार कहती है कि मनुष्य का मन वहीं तक क्रियाशील हो सकता है, जहाँ तक उसके साधारण ज्ञान की पहुँच है। जैसे, मैं द्रष्टा हूँ; मैं जो देखता हूँ, जो अनुभव करता हूँ, वह मेरी दृश्य वस्तु है। इस दृश्य के भीतर अनेक प्रकार का वैचित्र्य है। हमारा न्यायशास्त्र इसी वैचित्र्य के भीतर काम

करता है। न्यायशास्त्र ही क्यों, विज्ञान के द्वारा भी हम जितनी दूर आगे जा सकते हैं, वह सभी प्रत्यक्ष रूप से हो या परोक्ष रूप से, पंचेन्द्रियग्राह्य ज्ञान पर ही आधारित है। और इस पंचेन्द्रियग्राह्य ज्ञान को ही आधार बनाकर हम समस्त विज्ञान की गवेषणा करते हैं। शायद हमने किसी ऐसी वस्तु का आविष्कार किया, जिसे न हम आँख से देख सकते हैं, न कान से सुन। अब भले ही वह साक्षात् दिखाई नहीं देती, फिर भी परोक्ष रूप से उसे पंचेन्द्रियों का विषय होना चाहिए, नहीं तो विज्ञान उसे स्वीकार नहीं करेगा। ठीक इसी प्रकार के पंचेन्द्रियग्राह्य ज्ञान की सहायता से हम भगवान् को भी समझना चाहते हैं। समझना चाहते हैं इसलिए हम भगवान् की कल्पना करते हैं। आँखों से तो देख नहीं पाते, पर तर्क की सहायता से समझने की चेष्टा करते हैं। जैसे इस जगत् की सृष्टि हुई है, अतएव कोई एक सृष्टिकर्ता है, और वह सृष्टिकर्ता ही भगवान् है। अब प्रश्न है कि जगत् की यह जो सृष्टि हुई है, यह हमें किसने बताया? अन्य किसी ने नहीं बताया, पर यह हमारा अपना ही अनुभव है कि जो कुछ सम्मिलित होकर उत्पन्न होता है, उसको उत्पादित करने के लिए या उपादानों को एक साथ मिलाने के लिए किसी एक शक्ति का होना आवश्यक है। इस शक्ति को ही हम 'ईश्वर' कहते हैं। उस शक्ति, उस ईश्वर ने ही परमाणुओं को, या उनसे भी सूक्ष्म यदि कोई वस्तुएँ हों तो उन्हें विभिन्न प्रकार से विभिन्न प्रणालियों के द्वारा सम्मिलित करके इस जगत् की सृष्टि की है। हम इतनी कल्पना कर सकते हैं1 इससे अधिक अकाट्य प्रमाण और नहीं हैं। संसार एक वृक्ष है। न्यायशास्त्र कहता है कि इस संसारवृक्ष का बीज वही है, जिससे यह जगत् उत्पन्न हुआ है। किन्तु इसके द्वारा क्या इस बीज के सम्बन्ध में कुछ जाना जा सकता है? उस स्वरूप के सम्बन्ध में हम कितने ही प्रकार के सिद्धान्त देखते हैं। ये सब परस्पर-विरोधी सिद्धान्त कभी सत्य नहीं हो सकते। इनमें से किसी भी सिद्धान्त को ले लें, उसकी सत्यता के सम्बन्ध में पर्याप्त सन्देह का कारण है। अतएव युक्ति-तर्क के क्षेत्र में धर्म या ईश्वर के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान कहाँ है? ईश्वर के सम्बन्ध में तो बात दूर रही, हमें अपने ही सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान नहीं है। 'मैं' कहने से क्या बोध होता है, यह भी हम नहीं जानते। जब इसी विषय में तर्क किसी निश्चित सिद्धान्त पर नहीं पहुँच

पाता, तब यदि वह ईश्वर के सम्बन्ध में न पहुँच पाता हो तो इसमें आश्चर्य क्या ? तो क्या हम विचार न करें ? ठाकुर अधिकारीभेद से किसी किसी को तो विचार करने के लिए कहते थे और दूसरों को विचार करने से मना करते थे। मास्टर महाशय को शपथ दिलाते हुए वे कहते हैं, "कहो, विचार अब नहीं करूँगा।" कारण, ठाकुर चाहते थे कि मास्टर महाशय उनके भाव को बिना किसी editing (सम्पादन) के दूसरों के सामने रखें। इसीलिए मास्टर महाशय के लिए काम था – बिना विचार किये ग्रहण और उसे ठीक उसी प्रकार बिना व्याख्या किये दूसरों को प्रदान। एक बार जब तारक मास्टर महाशय के समान उनके उपदेशों को लिखकर रख ले रहे थे, तब ठाकुर ने उनको मना करते हुए कहा था, "अरे, वह काम तेरे लिए नहीं है।" जिसके लिए जो कार्य निर्दिष्ट था, उसे उन्होंने उसी कार्य के लिए तैयार किया। तभी तो उन्होंने मास्टर महाशय को हिदायत दी कि वे बिना किसी प्रकार विचार किये उनके भाव को बिना किसी हेर-फेर के – वह जैसा है वैसा – लोगों के सामने रख दें। यदि वे ऐसा न करते, तो मास्टर महाशय के अन्तःकरण में तर्क करने की जो मनोवृत्ति छिपी हुई थी, वह उनके उद्देश्य को व्यर्थ कर दे सकती थी। अतएव ठाकुर ने सोचा कि मास्टर महाशय के अहंकार को चूरचूर कर देना होगा और वह भी प्रारम्भ में ही करना होगा। यह एक बात थी। दूसरी बात यह थी कि मनुष्य के लिए परस्पर-विरोधी भावों का एकत्र समावेश भले ही असम्भव प्रतीत हो, पर ईश्वर के लिए वह बिलकुल ही असम्भव नहीं है। तभी तो ठाकुर ने मथुरबाबू को लाल जवा के पौधे की एक टहनी तोड़कर उसमें लाल और सफेद दो रंगों के फूल दिखा दिये और मथुरबाबू को स्वीकार करना पड़ा कि जिन्होंने नियमों की रचना की है, वे इच्छा करने पर किसी भी समय उन नियमों से बाहर भी जा सकते हैं। यह जो तर्क से अतीत तत्त्व है, उसे हम अपनी सीमित बुद्धि से नहीं पकड़ सकते – यह दूसरों को समझाना तो दूर की बात है, हम अपने आप को नहीं समझा पाते; विशेषकर बुद्धिमानों को यह बात समझाना और भी कठिन है।

हम लोग कई बार कहते हैं, "भगवान् सब कर सकते हैं।" पर यह केवल कहने की बात है। इसके साथ हमारे अन्तःकरण का कोई योग नहीं

होता। तभी तो दूसरे ही क्षण यदि कोई ऐसी घटना घट जाए, जो हमें पसन्द न हो, तो हम कह उठते हैं, "भगवान्, तुमने यह क्या किया!" हमारा आशय यह होता है कि भगवान् का ऐसा करना उचित नहीं हुआ। हम जो कहते हैं, वह सोच-विचारकर, नाप-तौलकर, गम्भीरता से नहीं कहते। किन्तु ठाकुर की हर बात खूब नाप-तौलकर कही गयी है – नाप-तौलकर इसलिए जिससे संशय-सन्देह की गुँजाइश न रह जाए। हमारे एक पुराने स्वामीजी विशेष सावधान कर देते थे कि ठाकुर के उपदेशों को लोगों के सामने रखते समय उनमें कहीं तनिक भी इधर-उधर न हो। हम कई बार ठाकुर के उपदशों को आधुनिक भाषा में व्यक्त करने के लिए अथवा उन्हें सभा-समारोह में प्रस्तुत करने योग्य बनाने के लिए उन पर कुछ प्रसाधन चढ़ा दिया करते हैं। उदाहरणार्थ, ठाकुर ने जहाँ पर 'कामिनी-कांचन' कहा है, हम बहुधा उसे 'काम-कांचन' कह देते हैं। इस प्रसंग में वे स्वामीजी कहते, "देखो, ठाकुर की बातें हैं मन्त्र। उन मन्त्रों का प्रयोग उन्होंने इसी प्रकार क्यों किया है, इसका कारण खोजने पर तुम्हें उसमें भी एक विशेष तात्पर्य निहित मिलेगा। हम लोग काम-कांचन शायद इसलिए कह देते हैं, जिससे महिलाओं के मन में किसी प्रकार का असन्तोष न पैदा हो। लेकिन ठाकुर जो बातें कहते थे, उनमें इस प्रकार abstract (अमूर्त) या व्यक्तिनिरपेक्ष भाव नहीं होता था, वे तो अपनी बात बिलकुल स्पष्ट कहने के आदी थे। उस समय उनकी बातें मानो हमारे सामने साकार हो उठती थीं। जहाँ पर मन में वासना के उठने की सम्भावना हो सकती हो, वहाँ पर उन्होंने 'कामिनी' शब्द का उल्लेख किया है – नारी को छोटा करने के लिए नहीं।" ठाकुर जानते थे कि इन नारियों में वही जगन्माता विद्यमान हैं, फिर भी वे कहते थे कि शक्ति का तारतम्य है, प्रकाश का तारतम्य है। कहीं पर वह जगन्माता "सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी" – विद्यामाया, परमाविद्या अथवा मुक्ति के कारण – के रूप में विद्यमान है, तो कहीं पर वह "संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी" – संसारबन्धन के कारण – के रूप में स्थित है।

क्षेत्र या पात्र के अनुसार एक ही शक्ति दो रूपों में प्रकाशित हो रही है, कहीं वह बन्धन की सृष्टि कर रही है तो कहीं बन्धन का मोचन। कहीं अभय

दे रही है तो कहीं संहार कर रही है। मनुष्य के लिए भले ही ये दोनों भाव परस्परविरोधी दिखें, पर उसके लिए ऐसा नहीं हैं। भागवत कहता है, 'त्वयीश्वरे ब्रह्मणि न विरुध्यते' – तुम ईश्वर हो, ब्रह्म हो, तुम्हारे लिए ये दोनों विरुद्ध नहीं हैं।

इसी प्रकार साकार और निराकार भले ही हमारी दृष्टि में परस्पर-विरोधी हों, पर ईश्वर की दृष्टि में तनिक भी विरुद्ध नहीं हैं। ठाकुर कहते हैं, "निराकार भी सत्य है और साकार भी सत्य है।"

**विभिन्न मतवाद**

साधारणतया कोई वेदान्तवादी – चाहे वह द्वैतवादी हो अथवा विशिष्टाद्वैतवादी या अद्वैतवादी, चाहे कुछ भी क्यों न हो – यह बात स्वीकारना नहीं चाहता। अद्वैतवादी कहता है – भगवान् कहो या स्रष्टा, जो जगत् का आदि है, वह निर्गुण है, निराकार और निरवयव है। उपनिषद् की भाषा में वह 'अस्थूलम्', 'अनणु', 'अह्रस्वम्', 'अदीर्घम्', 'अच्छायम्' है। बस, कुछ नेतिवाचक शब्दों की समष्टि खड़ी कर दी! फिर ये उपनिषद् ही उसके सम्बन्ध में यह भी कहते हैं कि वह 'सर्वकामः', 'सर्वरसः', और 'सर्वगन्धः' है। अर्थात् उसके भीतर सब प्रकार का भाव विद्यमान है। ब्रह्म में इन दो प्रकार के परस्पर-विपरीत धर्मों के एक साथ होते हुए भी श्रुति कहती है कि ब्रह्म के भीतर कोई विरोध नहीं है। अब इसकी मीमांसा करने में प्रवृत्त हो दार्शनिक अपनी सीमित बुद्धि की सहायता से इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि एक तो हुआ सत्य और दूसरा हुआ आरोपित अथवा मिथ्या। अतः एक दल कहता है, "यह जो बहुरूपता है, विशिष्टता है, यह सब मिथ्या है। जो सब रूपों और प्रकारों से अतीत है, वही सत्य है, और उसके जितने वैशिष्ट्य हैं, ठाकुर जिन्हें 'रंग-बिरंग' कहते थे, वे सब मिथ्या हैं।" उधर दूसरा एक दल कहता है कि उसके भीतर ही रंग-बिरंग सब है। तुम लोग पास जाओगे, तभी तो समझ सकोगे। दूर से देखने से कैसे समझोगे? सूर्य दूर से एक पुंजीभूत तेज के रूप में दिखता है। पास में जाने पर दिखेगा कि उसमें अनेक प्रकार का वैचित्र्य है। ज्ञानी लोग दूर से देखकर, एक आभास पाकर सोचते हैं कि हम सब समझ गये। इस प्रकार, एक दल है जो ज्ञानियों को काट देता है और ये ज्ञानी उन

लोगों को भ्रान्त कह देते हैं, जो भगवान् में वैचित्र्य देखते हैं। अद्वैतवादियों ने कहा कि हमने मीमांसा कर ली है। क्या मीमांसा कर ली है ? – यह कि ये जो द्वैतवादी हैं, वे भगवान् के स्वरूप को लेकर झगड़ा करते हैं – कोई कहता है उनके चार हाथ हैं, कोई कहता है दस हाथ हैं, इत्यादि। हम उनसे कहते हैं कि भई, यह सब मिथ्या है। उनमें से किसी के साथ हमारा झगड़ा नहीं है, क्योंकि हम जानते हैं कि वे सब के सब भ्रान्त हैं। बड़ी सुन्दर मीमांसा हो गयी न! सब को भ्रान्तों के दल में फेंक, हम एक ऊँचे मंच पर खड़े होकर स्वयं को उन लोगों से पृथक् कर लेते हैं और कहते हैं – मीमांसा हो गयी! ऐसी ही मीमांसा द्वैतवादी भी करते हैं। वे कहते हैं, "संसार को एक अद्वैतमत देकर मोहग्रस्त करने के लिए भगवान् ने शंकराचार्य को पृथ्वी पर भेजा था, क्योंकि इस जगत् को यदि माया से न ढका जाए, तब तो सभी लोग 'हरि-हरि' कहकर मुक्त हो जाएँगे!" ठाकुर के कथन का तात्पर्य यह है कि जिस सिद्धान्त पर तुम पहुँचना चाहते हो, सोचो तो उसके सम्बन्ध में तुम्हारी जानकारी भला कितनी है ?

ठाकुर उपमा देते हुए पद्मलोचन की बात कहते हैं। अनेक पण्डित यह विचार करने के लिए बैठे थे कि शिव बड़े हैं या विष्णु! हम जब पुराण आदि ग्रन्थ पढ़ते हैं, तब हमारे मन में भी ऐसे विचार उठते हैं। कौन बड़ा है ? एक-एक स्थान पर एक-एक देवता की जो दुर्दशा की गयी है, उसकी सीमा नहीं है। इससे बुद्धिविभ्रम होता है, समस्या पैदा होती है। अतः फैसला फिर तलवार की सहायता से होता है। इस प्रकार तलवार की सहायता से फैसला संसार में अनेक बार हुआ है। इतिहास में देखा जाता है कि शुरू शुरू में कहीं पर अनेक देवता थे। उनमें प्रधान कौन है इसका फैसला शस्त्रों से होता था। एक-एक दल के एक-एक देवता होता था। जो दल प्रधान होता, उसका देवता भी प्रधान हो जाता। देवताओं की प्रधानता इसी प्रकार तय होती थी और उस समय वही सर्वसाधारण तरीका था। जो हो, विष्णु बड़े हैं या शिव, इसका फैसला पण्डितगण नहीं कर सके। तब पद्मलोचन के पास समाधान के लिए जाना पड़ा। पद्मलोचन बोले, "भई, हमारे चौदह पुरखों में से किसी ने न तो शिव को देखा है, न विष्णु को, अतः कैसे बताऊँ कि कौन बड़ा है और

कौन छोटा ?" ऐसी बात कहने का साहस हममें होना चाहिए। अपने मन में यह धारणा स्पष्ट होनी चाहिए कि मैं इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता।

अतएव जब हम यह कहते हैं कि ईश्वर या तो साकार हैं या फिर निराकार, पर वे एक ही समय साकार और निराकार नहीं हो सकते, तब हम अपने सीमित भावों को ही बाहर प्रकट करते हैं।

### श्रीरामकृष्ण और मतसमन्वय

आज शायद हम सोचते हैं कि यह क्या पागलपन है! लेकिन ठाकुर के आने के पहले यह पागलपन है ऐसा भाव मन में नहीं उठता था। श्रीरामकृष्ण के आने से पूर्व जनसामान्य में ऐसे उदार भाव का प्रसार संसार में कभी नहीं देखा गया। जहाँ पर कुछ उदार भाव रहता भी, वहाँ भी उदारता वैसी असीम न होती, यानी वहाँ भी कुछ न कुछ संकोच, कुछ न कुछ सन्देह रह ही जाता था। 'शिवमहिम्नः स्तोत्र' में है –

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

– जिस प्रकार विभिन्न मार्गों से होकर जलप्रवाह समुद्र में पहुँचते हैं, उसी प्रकार सभी मनुष्य तुम्हारे ही पास पहुँचते हैं। पर यह जो 'ऋजु-कुटिल' है, इतना तो साथ रह ही जाता है। हमारावाला कुटिल और तुम्हारावाला ऋजु – यह कोई नहीं कहेगा। कहेगा – तुम्हारा ही कुटिल और हमारा ऋजु। लेकिन ठाकुर के पास ऋजु-कुटिल कुछ भी नहीं है। तभी तो वे कहते थे, "यह क्या एक धुन पकड़े बैठे हो!"

जिसका आस्वादन करना होगा, वह कितना रंग-बिरंगा है! उसमें कितना वैचित्र्य है! परिपूर्ण अनुभूति वहीं होगी, जहाँ द्वैत और अद्वैत का समन्वय होगा। इसीलिए इस समन्वयाचार्य की प्रारम्भ से एक ही बात है कि वे साकार भी हैं और निराकार भी हैं। उस बहुरुपिये की बात को याद करो, वह कभी लाल तो कभी नीला रहता है, कभी पीला तो कभी और कुछ हो जाता है, फिर कभी कभी उसके कोई रंग ही नहीं रहता। इन सब बातों को पकड़ने पर ही उस बहुरुपिये को पकड़ा जा सकता है। ऐसा न हो तो दृष्टि एकांगी हो जाती है। और हमारे जीवन की विडम्बना यह है कि ऐसी एकांगी और सीमित

बुद्धि लेकर हम उस पूर्णांग और असीम को समझना चाहते हैं! परिणाम जो होना चाहिए, वही हुआ है।

अतएव उस अपरिच्छिन्न तत्त्व को जानने के लिए हमें अपनी दृष्टि को उदार करना होगा। हम यदि दूसरों का भाव न समझ सकते हों, तो हमें अपने को यह समझाना होगा कि इसका कारण हमारी ही अपूर्णता है, उनके भाव की क्षुद्रता नहीं। यह समझौता नहीं है, सहिष्णुता नहीं है; स्वामीजी ने कहा है – यह toleration नहीं, यह acceptance है, सहन नहीं, स्वीकार। हम स्वीकार कर लेते हैं कि भगवान का कोई अन्त नहीं है। हम उन्हें जितने रूपों में देखते हैं, वे सब तो वे हैं ही, फिर जो रूप हमारी समझ से परे है, वह भी वे ही हैं। यही ठाकुर की शिक्षा का मूलमन्त्र है, जो वे मास्टर महाशय को प्रारम्भ में ही सिखाते हैं; और इसलिए सिखाते हैं कि वे चाहते हैं कि ये मास्टर महाशय ही उनके भावों के वितरक बनें। आज घर-घर में उनकी वाणी प्रचारित हो, अज्ञान का गहरा अन्धकार दूर हो जाए, हृदय-हृदय में ज्ञान का आलोक प्रज्वलित हो उठे, दिग्दिगन्त में उनके वचनामृत की अमृतमयी मन्दाकिनी प्रवाहित हो उठे।

□ □ □

# ५. तृतीय दर्शन

(वचनामृत १।३।१-२ : ५ मार्च १८८२)

श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों में एक ओर जहाँ उच्चतम आदर्श की बातें हैं, वहीं दूसरी ओर व्यावहारिक जगत् की उपयोगी बातें भी हैं।

**अधिकारीभेद से उपदेशप्रदान**

संसार के समस्त लोगों के कल्याण के लिए जिनका आगमन हुआ है, उनकी शिक्षा क्या कभी मुट्ठी भर लोगों के लिए हो सकती है ? ऐसा होने से तो अधिकांश लोग उनकी शिक्षा से वंचित रह जाएँगे। इसीलिए एक ओर वे जैसे सब कुछ सहने का उपदेश देते हैं, वैसे ही दूसरी ओर आवश्यक होने पर गृहस्थ को फुफकारने को भी कहते हैं।

**ब्रह्मचारी और सर्प का आख्यान**

इस प्रसंग में ब्रह्मचारी और सर्प के आख्यान का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि गृहस्थ को आत्मरक्षा के लिए इस फुफकार की आवश्यकता है। लेकिन त्यागी के लिए विधान दूसरा है, स्वयं की रक्षा के लिए भी उसके लिए यह फुफकारने का विधान नहीं है। उसके लिए नियम बड़े कठोर हैं। इस फुफकारने का अर्थ आदर्श के साथ समझौता करना नहीं है, बल्कि यह है कि आदर्श को जीवन में व्यवहारोपयोगी बनाने के लिए उसमें थोड़ासा परिवर्तन कर लेना चाहिए, जिससे साधारण मनुष्य के जीवन में वह धीरे धीरे सध जाए। ठाकुर कई बार अपने भावी त्यागी सन्तानों को लक्ष्य करके त्याग-वैराग्य का उपदेश देते थे। उपदेश देते देते जब उन्हें ध्यान आता कि इस समय यहाँ ऐसे भी बहुत से लोग उपस्थित हैं, जो त्याग के इतने उच्च आदर्श का अनुसरण नहीं कर पाएँगे, तब वे कहते, "हमने यह एक बात कह दी, इसमें से तुम लोग सिर-पैर छोड़कर ले लो।" अर्थात् तुम लोगों को जितना सहन हो, ग्रहण कर लो। यह जो अधिकारी का विचार करना है, यह आचार्य का काम है। एक ही प्रकार का आदर्श सब के लिए नहीं होता, इसलिए एक ही प्रकार का उपदेश

भी सब के लिए नहीं है। तभी तो हमारे शास्त्रों में विभिन्न प्रकार के आदर्शों का उल्लेख है; सब के लिए एक ही आदर्श का विधान नहीं किया गया है। जहाँ पर इस नियम का उल्लंघन हुआ है, वहाँ पर देखा गया है कि उसका परिणाम समाज के लिए घातक हुआ है। जैसे, बौद्ध धर्म के प्रसार के समय संन्यास के आदर्श पर इतना बल दिया गया कि साधारण जन जो संन्यासजीवन के अधिकारी नहीं थे, वे भी दल के दल संन्यासी बनने लगे। परिणाम यह हुआ कि अनधिकारी के हाथ में पड़कर संन्यास का आदर्श अपने मूल लक्ष्य से भ्रष्ट हो गया। लेकिन गीता के युग में हम एक भिन्न प्रकार का चित्र देखते हैं। गीता में अधिकारीभेद के अनुसार भिन्न भिन्न उपदेश हैं। यह अवश्य सत्य है कि कुछ साधारण नियम सब के लिए उपयोगी हो सकते हैं, किन्तु उनमें यदि लचीलापन न हो, तो वे समाज में चल नहीं पाएँगे। ऐसा न हो सका, तो आदर्श की अवनति होती है। इस प्रकार की घटना किसी एक युग में नहीं, अनेक युगों में हुई है। इसीलिए तो भगवान् को बार बार आना पड़ता है और पुरानी बातों को नये सन्दर्भ में रखना पड़ता है। तभी तो गीता में भगवान् कहते हैं – "स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः" – 'वह प्राचीन योग ही मैं तुमसे पुनः कहता हूँ।'

### श्रीरामकृष्ण और वर्तमान पथ

ठाकुर ने अनेक बार यह बात कही है कि धर्म सनातन है। उसमें कोई नयी बात देने योग्य नहीं होती, पर हाँ, पुराने सत्य को नये ढंग से परोसना होता है। सामाजिक परिस्थिति के अनुसार प्राचीन शिक्षा ही थोड़ा भिन्न रूप ले लेती है; पर मूलतत्त्व में कोई अन्तर नहीं होता। भगवान् जैसे सनातन हैं, भगवान् को पाने का पथ भी उसी प्रकार सनातन है। तथापि इस सनातन तत्त्व अथवा उनको पाने के पथ में अनन्त प्रकार का वैचित्र्य है। जब अवतार आते हैं, तब वे इस तत्त्व और पथ को उस युग के लिए उपयोगी बनाकर समाज में उसका प्रचार करते हैं। अतः उनकी शिक्षा के भीतर भी दो उद्देश्य रहते हैं। एक तो है सनातन तत्त्व को फिर से जीवित करना, प्राणवन्त करना; तथा दूसरा है उन तत्त्वों को युगोपयोगी बनाना। ठाकुर के जीवन में भी हम देखते हैं कि वे धर्म के सनातन तत्त्वों को प्राणवन्त बनाकर, सब के लिए बोधगम्य

करके सहज सरल रूप से सब के सामने प्रस्तुत कर रहे हैं, तथा यह भी कि उनके दर्शन से ही ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में अविश्वास दूर होता जा रहा है एवं मनुष्यजीवन का मुख्य उद्देश्य स्पष्ट होता जा रहा है। यही नहीं, उन्होंने धर्म को तरह तरह से युगोपयोगी भी बनाया है। वे कहते हैं, "देखो, कलियुग के लिए नारदीया भक्ति है। आजकल मनुष्य के पास इतना समय और सामर्थ्य नहीं है कि वह योग–यज्ञ या सन्ध्या–वन्दनादि में इतना लम्बा समय बिता सके। अब तो केवल गायत्रीजप करने से ही होगा। सन्ध्या का लय गायत्री में होता है और गायत्री का लय ॐकार में।"

उनका नाम लेने की बात पर कहते हैं, "उनका नाम लेना मन में, वन में, कोने में।" जिस तरह हो सके, मन में, वन में कोने में उनका चिन्तन करे। बीच बीच में एकान्त में वास करना सब के लिए नितान्त आवश्यक है – यह बात ठाकुर बार बार कहते हैं। फिर भी यदि किसी के लिए यह सम्भव न हो, तो उसके लिए भी उपाय है। वह कोने में बैठकर नाम ले। यह भी यदि सम्भव न हो, तो वह केवल मन ही मन उनका नाम ले।

धर्म को युगोपयोगी बनाने के लिए ठाकुर के अजस्र उपदेश हैं। उनमें से एक बात पर स्वामी विवेकानन्दजी ने विशेष जोर दिया है; वह यह कि 'जीव पर दया नहीं; ईश्वरबुद्धि से जीवसेवा।' दया करने पर दया के पात्र की तुलना में अपनी श्रेष्ठता का अभिमान होता है। इसीलिए ठाकुर कहते हैं, "दया कैसी रे? तू दया करनेवाला होता कौन है? तू सेवा करना। सर्वभूतों में वे ही हैं, यह समझकर शिवबुद्धि से जीव की सेवा करना।"

### शिवज्ञान से जीवसेवा

यह बात सुनते ही स्वामीजी ने कहा था, "आज मैंने एक अपूर्व बात सुनी! यदि भगवान् ने अवसर दिया, तो इस बात को कार्यरूप में परिणत करूँगा।" यद्यपि ठाकुर के इस उपदेश से वे सूत्र तो पा लेते हैं, लेकिन इसके उपरान्त भी वे ठाकुर के समक्ष पूरी तरह से आत्मसमर्पण नहीं कर देते, बल्कि प्रतिवाद करते हैं। किन्तु धीरे धीरे वे समझ जाते हैं कि उनके लिए यह सम्भव नहीं कि ठाकुर की बातों को नकार सकें। तभी तो अन्त में उनको कहना पड़ा, "इस पागल ब्राह्मण के पैरों में इस बार के लिए तो मेरा सिर बिक ही गया!"

स्वामीजी के सेवाधर्म का – शिवज्ञान से जीवसेवा का जो भाव है, उसका सूत्रपात यहीं से होता है। और यह ठाकुर की युगोपयोगी शिक्षा का एक ज्वलन्त दृष्टान्त है। इस प्रकार के दृष्टान्त हम उनके जीवन की अनेक घटनाओं में, उनके अनेक उपदेशों में पाएँगे। जैसे जैसे दिन बीतेंगे, लोग उन उपदेशों के भीतर से उनकी शिक्षा के नये नये सूत्र निकालेंगे।

साँप और ब्रह्मचारी की कहानी में हम देखते हैं कि ब्रह्मचारी साँप को काटने से मना करता है, लेकिन फुफकारने से मना नहीं करता। किसी का बुरा करने से मना करता है, लेकिन अन्याय को बिना सोचे-विचारे सहन करने के लिए नहीं कहता।

## पात्र के अनुसार उपदेश

फिर अधिकारीभेद से ठाकुर की शिक्षा में भी तारतम्य है। जब उन्होंने सुना कि निरंजन (स्वामी निरंजनानन्द) नाव में आते समय उनकी निन्दा होते सुनकर उन निन्दकों सहित नौका को डुबो देना चाहते थे, तब उनको डाँटते हुए कहा, "यह क्या रे! लोग कितनी ही बातें करते हैं, पर इसलिए क्या तू नाव डुबो देगा!" और ठीक इसका विपरीत चित्र हम स्वामी योगानन्द के जीवन में पाते हैं। वे भी इसी प्रकार एक दिन नाव से दक्षिणेश्वर आ रहे थे। कुछ यात्री ठाकुर पर कटाक्ष कर रहे थे, पर उन्होंने कोई प्रतिवाद नहीं किया। जब ठाकुर को इसका पता चला, तो उन्होंने बिना प्रतिवाद किये गुरुनिन्दा सुन लेने के लिए योगानन्दजी की भर्त्सना की। यह एक दूसरे प्रकार की शिक्षा है। इस प्रकार उनकी शिक्षा में कितना वैचित्र्य है! एक बार उन्होंने अपने कपड़े के बक्से में तिलचट्टे का बसेरा देखा। उन्होंने अपने एक शिष्य से कहा कि वह तिलचट्टे को ले जाकर मार आए। वह शिष्य प्रकृति से अत्यन्त कोमल था। वह तिलचट्टे को बाहर ले गया और बिना मारे छोड़ आया। यह जानकर ठाकुर ने उस शिष्य की भर्त्सना की। शिष्य तो अवाक् हो गया। उसने सोचा था कि कहाँ उसमें अहिंसा की पराकाष्ठा देखकर ठाकुर उस पर प्रसन्न होंगे और कहाँ बात उलटी हो गयी! लेकिन ठाकुर की भर्त्सना का उद्देश्य यह था कि यदि शिष्य उनकी आज्ञानुसार कार्य न कर अपनी इच्छानुसार करते रहें, तब तो साधनपथ में उनके लिए बड़ी विपत्ति की सम्भावना है।

## बद्धजीव और मुक्ति का उपाय

इसके बाद ठाकुर विभिन्न प्रकार के जीवों की बात कहते हैं। चार प्रकार के जीव हैं – बद्धजीव, मुमुक्षुजीव, मुक्तजीव और नित्यमुक्तजीव। जो बद्धजीव हैं, वे सब समय बन्धन में ही रहते हैं और इस बन्धन में ही उनका आनन्द है। मुमुक्षुजीव इस बन्धन से मुक्ति पाने की चेष्टा करते हैं और उनमें से कोई कोई बन्धन काटकर निकल भी जाते हैं। ऐसे लोगों को कहा जाता है – मुक्तजीव। नित्यमुक्तजीव वे हैं, जो कभी महामाया के जाल में नहीं फँसते।

बद्धजीव के सम्बन्ध में ठाकुर कह रहे हैं, "बद्धजीव संसार में कामिनी-कांचन में बँधे रहते हैं, उनके हाथ-पाँव बँधे हुए हैं। . . . देखा कि समय नहीं कट रहा है तो ताश खेलने लगते हैं।" उनकी बात सुनकर सब स्तब्ध हैं। यह श्रोताओं को स्तब्ध कर देनेवाली ही बात है, क्योंकि ऐसा दृश्य तो उन सभी ने देखा है, लेकिन इस दृष्टि से कभी विचार ही नहीं किया। संसार में जो नौकरी से अवकाश ग्रहण करते हैं, उनको देखने से समझा जा सकता है कि ठाकुर ने किस प्रकार हूबहू चित्र खींचा है। जिस समय का प्रत्येक क्षण हमारे लिए अमूल्य है, उसको किसी प्रकार काट देने की हमारी यह कैसी प्राणपण चेष्टा होती है! समय की इस बँधी सीमा के बीच जीवन के उद्देश्य को सफल करना कितना कठिन है! कहाँ इसके लिए एक उत्कण्ठा, एक तीव्र व्याकुलता होनी चाहिए, सो तो नहीं, उलटे यह सोचते हैं कि समय किस तरह काटेंगे! यदि हम सचमुच इस बन्धन को बन्धन समझकर अनुभव करते, तब तो यह बन्धन हमें असह्य प्रतीत होता। पर जहाँ बन्धन का ही बोध नहीं, वहाँ उसे काटने की चेष्टा कैसे होगी? उलटे यदि कोई हमें उस बन्धन से मुक्ति का पथ दिखला दे, तो हम प्रश्न करते हैं कि उस मुक्ति में हमें क्या सुख है! कुछ दिन पहले चर्चा चल रही थी – 'सहस्र बन्धनों के बीच पाऊँगा मुक्ति का स्वाद।' पर यह 'बन्धनों के बीच' क्यों? क्या उसके प्रति बड़ा आकर्षण है इसलिए? मुक्ति का स्वाद चाहिए यह तो बहुत अच्छी बात है, लेकिन वह बन्धन के बीच क्यों?

हम लोग प्रायः कल्पना करते हैं कि मृत्यु के उपरान्त जब हम स्वर्ग जाएँगे, तब वहाँ अपने स्वर्गीय आत्मीय-स्वजनों से हमारी भेंट होगी, एक family reunion– पारिवारिक मिलन जैसा होगा। वहाँ हमारा कोई शत्रु नहीं

जाएगा; वहाँ केवल वे ही रहेंगे, जिन्हें हम पसन्द करते हैं। हममें से जो शास्त्र को मानते हैं, ईश्वर को मानते हैं, अपने को शुद्धाचारी मानते हैं – फिर वह आचार जैसा भी क्यों न हो – यही सोचते हैं कि हमारे पास ही स्वर्ग का एकाधिकार रहेगा। अभी प्रत्यक्ष में हम इस संसार का भोग कर रहे हैं और मृत्यु के उपरान्त कल्पित परलोक का एक सुनहला स्वप्न देखते हैं, जिस परलोक में इस जगत् के सारे बन्धन साथ रहेंगे। जीव की बद्धावस्था का यह एक चरम दृष्टान्त है। इसलिए कई बार हम सोचते हैं कि हमारे समान संसारी जीवों के लिए, बद्धजीवों के लिए क्या कोई उपाय है?

लेकिन ठाकुर इस प्रकार की निराशा की बात सुनना पसन्द नहीं करते थे। इसीलिए वे कह रहे हैं, "उपाय अवश्य है। बीच बीच में साधुसंग और निर्जन में ईश्वरचिन्तन करना चाहिए, विचार करना चाहिए, प्रार्थना करनी चाहिए कि मुझे भक्ति-विश्वास दो।" इन उपायों में से कोई भी इतना कठिन नहीं है, जिसे नितान्त संसारी से संसारी जीव भी न कर सके। हमारी जो दुर्दशा है, उसे हम समझते तो हैं, लेकिन साथ साथ यह विश्वास रखना भी आवश्यक है कि इस बन्धन से मुक्ति का उपाय भी है, और वह हमारे हाथ में ही है। ऐसा न होने से जीव तो हताशा के अन्धकार में डूब जाएगा।

## बौद्ध धर्म और गीता का मत

बौद्ध धर्म में मुख्य बात है 'चतुरार्यसत्य' अर्थात् चार आर्य सत्य। इनमें प्रथम है – 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकं दुःखम्' – सब कुछ क्षणिक और दुःखमय है। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं – 'अनित्यम् असुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्व माम्' – इस अनित्य और सुखरहित जगत् को पाकर मुझे भजो। अब मिलाकर देखें – बुद्ध कहते हैं 'क्षणिक' और कृष्ण कहते हैं 'अनित्य'। बुद्ध कहते हैं 'सर्वं दुःखम्' और कृष्ण कहते हैं 'असुखम्'। इनकी बातों में कोई अन्तर नहीं है। यह संसार अनित्य है, और यह अनित्य संसार दुःखमय है।

अब इस दुःख से छुटकारा पाने का उपाय क्या है? ठाकुर कहते हैं, "उपाय अवश्य है।" बुद्ध भी कहते हैं कि इस दुःख की निवृत्ति का उपाय है, और वह निवृत्ति का उपाय भी मनुष्य के ही हाथ में है। अब यदि कोई वह उपाय ग्रहण न करे, तो इसके लिए वह स्वयं जवाबदार है। यहाँ पर 'संसारी

जीव' का यह अर्थ नहीं कि जिसने विवाह आदि कर लिया हो, बल्कि 'संसरति इति संसारी' – अर्थात् जो जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसा हुआ चल रहा है, वही संसारी है। जो लोग इस चक्र से छूटने के लिए किसी भी प्रकार चेष्टा नहीं करते, वे संसारी जीव हैं। ठाकुर कहते हैं कि ऐसे संसारी जीवों के लिए भी उपाय है। और वह उपाय है साधुसंग, ईश्वरचिन्तन, विचार और प्रार्थना। सब से पहले चाहिए साधुसंग, अर्थात् ऐसे एक व्यक्ति का साथ, जो संसार के जाल में फँसा हुआ न हो। बुद्ध के जीवन में वैराग्य का उदय ठीक इसी प्रकार हुआ था। सिद्धार्थ जब रोग, शोक, जरा, मृत्यु को देखकर विचार कर रहे थे कि इस जगत् में फिर सुख है कहाँ, तो ठीक उसी समय उनकी दृष्टि पड़ी एक संन्यासी पर, एक आनन्दमय पुरुष पर। इस आनन्द के उत्स को खोजते हुए वे इस दुःख के हाथ से निवृत्ति का उपाय पा लेते हैं; 'चतुरार्यसत्य' का आविष्कार करते हैं। इसीलिए साधुसंग की आवश्यकता है। जो साधु हैं, उनमें आनन्द का एक अटूट प्रवाह बना रहता है। इसलिए उनके संस्पर्श में जो भी आते हैं उनके जीवन में भी उस भाव का कुछ न कुछ संक्रमण हो ही जाता है। बुद्धदेव इतने अनभिज्ञ नहीं थे कि रोग-शोक की बात उन्होंने कभी न सुनी हो। लेकिन जब उन्होंने अपनी आँखों से यह सब देखा, तब उसकी प्रतिक्रिया दूसरे ही प्रकार की हुई। ठीक उसी प्रकार हम जानते तो हैं कि यह जीवन अनित्य है, दुःखमय है, लेकिन बीच बीच में साधुसंग करते रहने से हमें यह बोध होता है कि हम जो परम्परागत जीवन बिता रहे हैं, उसके बाहर एक आनन्दमय जगत् है, जिसकी खोज करना ही हमारा यथार्थ में काम्य है। इसीलिए बीच बीच में साधुसंग की आवश्यकता है। 'बीच बीच में' इसलिए कहा कि हमारे जीवन में संसार के संस्कारों ने ऐसी जड़ें जमा ली हैं कि एकआध बार के साधुसंग से उन जड़ों को दूर करना सम्भव नहीं हो पाता। इसीलिए बीच बीच में साधुसंग करना होगा। ऐसा करते करते मन के भीतर एक चेतना उत्पन्न होगी, नवजागरण होगा, तब हम समझ सकेंगे कि जागते हुए भी हम कितनी भयानक निद्रा में पड़े हुए हैं! और तब एक नये आनन्दमय जगत् को आँखें खोलकर देखने की हमारे भीतर एक आकांक्षा, तीव्र व्याकुलता जगेगी।

□ □ □

# ६. चतुर्थ दर्शन

## (वचनामृत १।४।१-२ : ६ मार्च १८८२)

### ठाकुर का सहज और गम्भीर भाव

५ मार्च सन १८८२ ई.। ठाकुर दक्षिणेश्वर के अपने कमरे में भक्तों के साथ भगवच्चर्चा कर रहे हैं। मास्टर महाशय ठाकुर का दर्शन करने यह चौथी बार आये हैं। अतः ठाकुर से उनका कुछ परिचय हो चुका है, लेकिन फिर भी अभी ठाकुर के विभिन्न भावों से उनका सम्यक् परिचय नहीं हुआ है। उन्होंने ठाकुर को समाधिस्थ अवस्था में देखा है, भक्तों के साथ ईश्वरचर्चा करते हुए देखा है, गम्भीर तत्त्व की बातों को सहज ढंग से व्याख्या करते हुए देखा है – यह एक प्रकार का दृश्य था। फिर मास्टर महाशय ही ठाकुर को लड़कों के साथ ठिठोली करते हुए देख रहे हैं, मानो वे लड़के उनके हमजोली हों। यह सर्वथा विपरीत दृश्य है। इसीलिए मास्टर महाशय सोच रहे हैं कि पिछली बार जिन रामकृष्ण के साथ उनका परिचय हुआ था, ये मानो वे रामकृष्ण नहीं हैं। तभी तो उनके मन में प्रश्न उठा था – "क्या ये वही हैं ?" हममें से बहुतों की ऐसी धारणा होती है कि जो धर्म की बातें बोलते हैं, वे सर्वदा गम्भीर चिन्तन में निमग्न रहेंगे और उनमें ऐसा एक गाम्भीर्य होगा, जिसको भेदकर साधारण मनुष्य का उनके पास पहुँचना कठिन होगा।

सर्वत्र, सब देशों में, साधकों के सम्बन्ध में साधारण मनुष्य की ऐसी ही धारणा रहती है। जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ मन में यही आता है – 'यह कैसी बात है ?' पाश्चात्त्य देशों में स्वामी विवेकानन्द को एक साधारण मनुष्य की तरह हास-परिहास करते देख किसी भक्त ने आश्चर्यचकित होकर उनसे इस सम्बन्ध में पूछा था। उत्तर में स्वामीजी ने कहा था – "We are the children of Bliss. Why should we be morose and gloomy?" – हम आनन्द की सन्तान हैं, हम विषण्ण में क्यों रहें ? स्वामीजी यह बात इसलिए कह सके थे कि वे ठाकुर की कृति विवेकानन्द थे।

ठाकुर जिस समय साधारण भूमि में रहते, उस समय भी वे सदानन्दी पुरुष थे। आनन्द मानो उनके चारों ओर प्रवाहित होता और वे साधारण भूमि में उतरकर सामान्य-सी बात को लेकर भी वैसा आनन्द मनाया करते। जिस प्रकार मास्टर महाशय ने यहाँ उन्हें छोकरों के साथ ठिठोली करके आनन्द मनाते हुए देखा, ठीक उसी प्रकार का एक दृष्टान्त हम स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज के जीवन में पाते हैं। वे तब बलराम-मन्दिर में थे। वहाँ उनके दर्शन करने के लिए एक भक्त आया था। अपने साथ एक मित्र को भी यह कहकर लेता आया था कि वह उसे एक महापुरुष के दर्शन कराएगा। उसने वहाँ पहुँचकर देखा कि महाराज तो छोकरों के साथ हँसी-मसखरी कर रहे हैं। भक्त विचार करने लगा कि महाराज तो तनिक भी धर्मप्रसंग नहीं कर रहे हैं, जाने उसका मित्र क्या सोचे! कुछ समय के पश्चात् जब वे लोग विदा लेने लगे, तो महाराज ने हँसते हँसते उनसे कहा, "अजी, हम लोगों में अच्छी बातें भी होती हैं।" राह में चलते हुए भक्त सोचने लगा कि शायद मित्र को बड़ी निराशा हुई है। लेकिन मित्र ने कहा, "भाई, अब यह तो नहीं जानते कि आध्यात्मिक जीवन में महापुरुषों का कैसा बोध होता है, लेकिन आज एक नयी बात देखी – एक आनन्दमय पुरुष को देखा।" महाराज ने बिना कोई उपदेश दिये ही उस नवागत मित्र के मन को किस प्रकार जीत लिया, यह तो वे ही जानें।

हम लोग जो यह समझते हैं कि महापुरुष किसी एक निर्धारित मार्ग से ही चलेंगे, तो वैसी बात नहीं है। उनकी पद्धति अलग है। ठाकुर के जीवन में भी वैसा क्रम देखकर भला कौन कहेगा कि वे इतना धर्मप्रसंग करते हैं। कभी कभी तो ठाकुर लड़कों से हँसी-मजाक करते समय तथाकथित शिष्टता का भी ध्यान नहीं रखते। हँसते हुए कहते, "बीच में थोड़ी छौंक देनी पड़ती है!" अब यह तो वे ही जानें कि क्या दे सकते हैं, क्या देना उचित है, कितना देना उचित है। यह सब वे ही समझें – वैद्य जो हैं। साधारण मनुष्य के लिए उसकी धारणा करना कठिन है। तभी तो मास्टर महाशय भी उन्हें इस अवस्था में देखकर आश्चर्यचकित हो रहे हैं।

### रामकृष्ण और चिह्नित भक्तगण

ठाकुर मास्टर महाशय को देखकर कहते हैं, "लो! फिर से आ

गया।" वे अपने अन्तरंग भक्तों को पहचानते थे। मास्टर के सन्दर्भ में भी इसका अपवाद नहीं हुआ। पर बात यह थी कि ठाकुर तरह तरह से उन लोगों की परख करते थे। वे मास्टर महाशय से पूछते हैं, "अच्छा, मेरे सम्बन्ध में तुम्हारी क्या धारणा है? मैं तुम्हें कैसा लगता हूँ?" यह प्रश्न अपने सभी अन्तरंगों से पूछकर वे यह जान लेते कि वे लोग उनकी कितनी धारणा कर पाये हैं। फिर किसी किसी को देखकर ठाकुर एकदम उछल पड़ते। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं अपने मुँह से कहा है, "यह कैसा है जानते हो? जैसे बहुत दिनों के बाद अचानक अप्रत्याशित रूप से कोई निकट का स्वजन सामने आ जाने पर आदमी अवाक् हो जाता है, . . . ठीक वैसे ही जब देखता हूँ कि कोई अन्तरंग पार्षद आ रहा है, जिसे पहले कभी देखा नहीं, जिसके साथ यह पहली मुलाकात होगी, न वह मुझे जानता है, न मैं उसके सम्बन्ध में कुछ जानता हूँ, तब अचानक उसे देख अवाक् होकर इस प्रकार उछल पड़ता हूँ।" यह बात उन्होंने स्वयं कही इसलिए लोग जान पाये, अन्यथा जानने का कोई उपाय नहीं था। नवागत भक्तों के साथ उनका जो सम्बन्ध था, उसे वे हमेशा प्रकट नहीं करते थे। कभी कभी वार्तालाप के प्रसंग में बोल उठते। जैसे मास्टर महाशय के साथ उनका जो सम्बन्ध था, उसका उल्लेख उन्होंने इन कुछ मुलाकातों में भी नहीं किया। उन्होंने अब तक मास्टर महाशय को यह नहीं बताया था कि वे उनके पार्षद हैं, अर्थात् उनके कार्य में सहकारी होने के लिए आये हैं।

निस्सन्देह स्वामी विवेकानन्दजी के सम्बन्ध में बात दूसरी थी। स्वामीजी के लिए वे कितने दिनों तक प्रतीक्षा करते रहे थे। इसीलिए उनसे मिलते ही वे मानो अपने आपको और अधिक ढककर नहीं रख सके। उनके साथ अपने सम्बन्ध का खुलासा करके ही उन्होंने उन्हें ग्रहण किया था। लेकिन स्वामीजी कुछ भी समझ नहीं सके थे। यह जो अन्तरंगों के साथ उनका सम्बन्ध है, उसकी जानकारी उन्हें तो है, लेकिन जिनसे सम्बन्ध है, उनके लिए भी तो यह जानना आवश्यक है। जैसा कि भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं –

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

– "हे अर्जुन, तुम्हारे और मेरे कई जन्म अतीत में हो चुके हैं।" तुम्हारा और

मेरा इन शब्दों को आजूबाजू रखते हुए कहते हैं कि "तुम मुझसे जुड़कर, मेरे सहकारी रूप में बहुत बार आये हो।" "तानि अहं वेद सर्वाणि" – वह सब मैं जानता हूँ, किन्तु तुम नहीं जानते। ठीक इसी प्रकार अपने पार्षदों को भी ठाकुर ने पहचान लिया था, जान लिया था कि अन्य लोगों की तरह कर्म के द्वारा प्रेरित होकर वे नहीं आये हैं, बल्कि वे उनके इस विश्वकल्याण के कार्य में सहायक होने के लिए आये हैं, भगवान् के लीलासहचर के रूप में आये हैं। ठाकुर ने कहा है, "तुम लोगों को केवल इतना जानने की आवश्यकता है कि तुम कौन हो, मैं कौन हूँ और मेरे साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है" – बस, इतना होने से ही हो गया! यही दिव्य जन्म और कर्म है। इतना जान लेने से ही उन लोगों का हो जाएगा। उन्हें और कुछ जानना नहीं पड़ेगा। यदि वे कुछ साधना करा लेते हैं, तो केवल इस ज्ञान के उन्मेष के लिए ही कि उनके सामने जो हैं, वे स्वयं परमेश्वर हैं, जीव के कल्याण के लिए देहधारण करके आये हैं, और ईश्वर के उसी कार्य के सहकारीरूप में वे लोग आये हैं।

इसके पश्चात् हम देखते हैं कि दृश्य बदल रहा है। इतना जो हँसी-मजाक हो रहा था, वह शान्त हो गया। हनुमान की बात उठी, राम के दास हनुमान की। ठाकुर बोले, "देखो, हनुमान का कैसा भाव है! धन, मान, देहसुख कुछ भी नहीं चाहते, केवल भगवान् को चाहते हैं। स्फटिक स्तम्भ से ब्रह्मास्त्र लेकर हनुमान जा रहे हैं। अस्त्र को वापस पाने के लिए मन्दोदरी कितना प्रलोभन दिखाती है। लेकिन कोई भी प्रलोभन उन्हें लक्ष्य से च्युत नहीं कर सकता। राम का कार्य करने के लिए उनका आना हुआ है; राम को छोड़ वे और कुछ नहीं जानते।" यही गीत गाते गाते फिर समाधि हो गयी। वे निश्चल, निःस्पन्द हो गये। मास्टर महाशय ने जैसा पहले देखा था, ठीक वैसा ही देख रहे हैं। तब उनके मन में विचार उठता है – "क्या ये ही महापुरुष छोकरों के साथ ठिठोली कर रहे थे!"

### श्री 'म' का यन्त्ररूप में गठन

मास्टर महाशय दो सर्वथा विपरीत दृश्य, दो विपरीत स्वभाव देखकर आश्चर्यचकित हो रहे हैं। इसके पश्चात् ठाकुर ने मास्टर महाशय और स्वामीजी को अँगरेजी में कुछ तर्क करने के लिए कहा। लेकिन मास्टर महाशय

कहते हैं, "ठाकुर की कृपा से मेरा तर्क का कक्ष एक प्रकार से बन्द हो गया है।" ठाकुर ने एक बार मास्टर महाशय से कहा था, "बोलो, अब और विचार नहीं करूँगा।" इस प्रकार तीन बार कहने को लगाया था, क्योंकि यह मार्ग मास्टर महाशय के लिए नहीं था। उन पर तो यही दायित्व था कि वे ठाकुर का भाव जिस प्रकार देख रहे हैं, उसमें बिना किसी प्रकार editing(सम्पादन) किये ठीक उसी प्रकार लोगों के समक्ष रखेंगे। उसमें थोड़ा भी हेरफेर नहीं चलेगा। एक बार उन्होंने मास्टर की परीक्षा ली। पूछा, "अच्छा, बताओ तो मैंने क्या कहा था?" मास्टर महाशय ने बतलाया। इस पर ठाकुर ने कहा, "नहीं, ठीक नहीं हुआ। वैसा नहीं, ऐसा कहा था।" इस प्रकार वे संशोधन कर देते थे, जिससे उनके उपदेश सही रूप से लोगों के सामने रखे जा सकें। तभी तो ठाकुर ने मास्टर महाशय को तीन बार शपथ दिलायी। यही कारण है कि मास्टर महाशय के तर्क का घर बन्द है। एक बार ठाकुर ने बालकभक्त सुबोध को मास्टर महाशय के पास जाने के लिए कहा। सुबोध ने सोचा कि मास्टर तो गृहस्थ हैं, उनसे भला क्या धर्मोपदेश लेने जाऊँ? लगता है कि सुबोध को इस बात का कुछ अभिमान था कि वे त्यागी जीवन बितानेवाले हैं। इसलिए ठाकुर ने जब पुनः उनसे पूछा, तो वे कह उठे, "वे तो गृहस्थ हैं, उनके पास भला धर्मोपदेश सुनने क्या जाऊँ?" इस पर ठाकुर हँसते हुए बोले, "नहीं रे, तू जाना।" ठाकुर की बात रखने के लिए वे मास्टर महाशय के पास गये। मास्टर महाशय ने जाना कि नितान्त अनिच्छा से ही सुबोध उनके पास आया है। वे सुबोध से बोले, "मैं अपने पास एक बड़े कलसे में गंगाजल भरकर रखता हूँ। जब कोई आता है, तब उसी में से लेकर थोड़ा थोड़ा बाँटता हूँ।" तात्पर्य यह कि इन उपदेशों में उनका अपना कुछ भी नहीं है। ठाकुर की बातों को बड़े कलसे में गंगाजल रखने की भाँति उन्होंने मन में भरकर रख लिया था। इससे समझ में आता है कि ठाकुर ने मास्टर महाशय को विचार करने से इतना मना क्यों किया था, क्यों उनसे कहा था कि विचार का पथ तुम्हारे लिए नहीं है।

ठाकुर का गाना सुनकर मास्टर महाशय मुग्ध हो गये हैं। जिन्होंने भी उनका गाना सुना है, वे कहते हैं कि एक बार उनका गाना सुन लेने के बाद किसी दूसरे का स्वर अच्छा नहीं लगता। तभी तो ठाकुर के गाने पर मुग्ध

मास्टर महाशय पता लगा रहे हैं कि फिर से गाना होगा या नहीं। ठाकुर उन्हें बलरामबाबू के घर जाने के लिए कहते हैं, वहाँ गाना होगा। मास्टर का अपनी भक्तमण्डली से परिचय करा देने का यह मानो एक उपक्रम था। इसमें हम ठाकुर के प्रचारकार्य का कुछ परिचय पाते हैं। वे जिस समय जहाँ गये, उन लोगों को ठीक सूचना भिजवा दी, जिन लोगों के लिए वे वहाँ गये। वे जो विशिष्ट भावधारा जगत् को दिये जा रहे हैं, उसे अविकृत रूप से धारण करके रखने के लिए उन्हें कुछ शुद्ध आधार चाहिए। इन शुद्ध आधारों को वे एक सूत्र में गूँथकर रखना चाहते हैं, ताकि भविष्य में एक संघ गढ़ ले सकें। उन्होंने भले ही यह बात स्पष्ट रूप से नहीं कही, फिर भी उनके व्यवहार से यह साफ दिखाई देता है कि एक सुनिर्दिष्ट पद्धति के अनुसार उनका कार्य हो रहा है। 'लीलाप्रसंग' में ठाकुर के जीवन का सम्यक् विवेचन करते हुए स्वामी सारदानन्द ने यह प्रदर्शित किया है कि उनके जीवन की अति तुच्छ घटना भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बहिरंग दृष्टि से हो सकता है कि हम सब समय उसके मर्म को न पकड़ पाएँ, पर जरा बारीकी से विचार करके देखने पर हम यह अच्छी तरह समझ सकेंगे कि विशेष युगप्रयोजन को साधित करने के लिए वे एक सुनिश्चित प्रणाली का अनुसरण करते हुए कार्य किये जा रहे हैं – भले ही उन्हें इसका भान न हो और वे यह मानते रहे हों कि मैं जगन्माता के हाथों यन्त्र मात्र हूँ।

### भाव का प्रचार

वे केवल प्रौढ़ धर्मान्वेषियों के पास ही नहीं गये, अपितु जो तथाकथित धर्मविमुख लोग थे, उनके पास भी गये, और बिना बुलाये गये। उन दिनों जो विशिष्ट गण्यमान्य व्यक्ति थे, उनसे वे आग्रहपूर्वक मिलना चाहते थे। इस आग्रह का कारण भले ही वे स्वयं न जानते हों, लेकिन यह उनकी युगोपयोगी भावधारा को संचारित करने का एक मार्ग था। वे चाहते थे कि उनके भक्तगण एकत्र होकर भगवत्प्रसंग लेकर नाचते-गाते हुए आनन्द का मेला लगाएँ, और एक ऐसा उच्च आध्यात्मिक सुर तैयार करें, जिसे समवेत श्रोतागण वहन करके ले जाएँ और चारों दिशाओं में फैला दें। साथ ही वे अपने अन्तरंग भक्तों को इस प्रकार तैयार कर रहे थे, जिससे उनकी भावधारा अविकृत रूप से उन लोगों के अन्तःकरण में प्रवाहित होती रहे। उनसे वे कहते, "देखो, तुम लोग अन्यत्र

कहीं मत जाना, तुम लोग केवल यहीं पर आना।" आश्चर्यजनक बात है। जिनकी उदारता आकाश के समान सीमाहीन हो, उनके मुख से इस प्रकार की बात क्यों ? इसका कारण यह है कि वैसा न होने पर वे लोग उनकी भावधारा को अविकृत रूप से प्रकाशित करने में समर्थ नहीं होंगे।

उनको माध्यम बनाकर, उनके अनजाने ही, जगन्माता के विधान से एक विशेष प्रयोजन की सिद्धि हो रही थी, और वह हो रही थी एक सुनिर्दिष्ट प्रणाली के अनुसार। भले ही वे स्वयं यह सब न जानते रहे हों; और वे जानते नहीं थे इसीलिए तो उनमें एक शिशुसुलभ सरलता दिखाई देती थी। एक ओर तो वे सब के लिए गुरुवत् थे, सब का भूत, भविष्य और वर्तमान देख लेते और नियन्त्रित करते; फिर दूसरी ओर वे ही शिशु के समान कितने सहज-सरल और असहाय प्रतीत होते, मानो हम लोगों की सहायता के बिना खड़े भी न रह सकेंगे! तभी तो मथुरबाबू सोचा करते कि बाबा को उनके समान एक अभिभावक की विशेष आवश्यकता है, नहीं तो इस असहाय शिशु की रक्षा और देखरेख कौन करेगा ? फिर उसी असहाय शिशु के सामने हम मथुर के जैसे दुर्दमनीय जमींदार को समर्पण के स्वर में गिड़गिड़ाते हुए भी सुनते हैं – "बाबा, बचाओ!" हम लोग कई बार इन दो विपरीत भावों में सामंजस्य नहीं बिठा पाते, न ही बिठा पाते हैं मास्टर महाशय के द्वारा ठाकुर के देखे गये दो रूपों में। एक ओर वे गम्भीर अध्यात्मतत्त्व की व्याख्या कर रहे हैं, तो दूसरी ओर छोकरों के साथ मिलकर उनके ही समान हँसी-मसखरी कर रहे हैं। एक ओर सब के भूत, भविष्य और वर्तमान का नियन्त्रण कर रहे हैं, तो दूसरी ओर नितान्त असहाय शिशु के समान व्यवहार कर रहे हैं। मास्टर महाशय ने उनमें यह जो विपरीत भावों का मेल देखा, वही इस लोकोत्तर पुरुष, अवतारपुरुष के जीवन का वैशिष्ट्य है।

□ □ □

# ७. केशवचन्द्र सेन के साथ

(वचनामृत १।१३।१-३ : २७ अक्टूबर १८८२)

ठाकुर को स्टीमर में घुमाने ले जाने के लिए केशव सेन आये हैं। ठाकुर नौका पर जा रहे हैं। मास्टर महाशय इस दृश्य का वर्णन करते हैं। साथ साथ गंगा का, दक्षिणेश्वर मन्दिर का, नीले आकाश का भी वर्णन करते हैं, और सर्वोपरि, समस्त सौन्दर्य के उद्‌गम श्रीरामकृष्ण का वर्णन करते हैं। ऐसे परिवेश में केशव के साथ ठाकुर का मिलन होगा, जिसे मास्टर महाशय देखेंगे।

### रामकृष्ण और केशव – दोनों का विपरीत भाव

उन दिनों बंगाल का शिक्षित युवकसमाज केशव सेन के गुणों पर मुग्ध था। केशव ने अपनी विद्वत्ता, अपनी असाधारण वाग्मिता और, सर्वोपरि, अपनी निराकार ब्रह्म की उपासना के द्वारा एक नये आध्यात्मिक जीवन का पथसंकेत दिया था। इस सब के कारण वे उस समय के नवशिक्षित युवकसमाज के समक्ष आकर्षण का केन्द्र बन गये थे। और उस शिक्षित युवकसमाज में एक थे मास्टर महाशय। इसीलिए अत्यन्त स्वाभाविक रूप से उन्होंने केशव सेन के साथ ठाकुर की तुलना करते हुए यह समझाने की चेष्टा की है कि इन दोनों महापुरुषों में मिलन का सूत्र कहाँ है। वे सोचते हैं कि केशव क्या देखकर ठाकुर के प्रति इतनी भक्ति रखते हैं और ठाकुर भी क्या देखकर केशव के प्रति इतने आकृष्ट हैं। वैसे देखा जाए तो इन दोनों की जीवनधारा सर्वथा विपरीत दिशाओं में प्रवाहित हो रही थी। केशव शिक्षित हैं, इस दृष्टि से देखने पर श्रीरामकृष्ण प्रायः निरक्षर हैं; ठाकुर मूर्तिपूजा करते हैं और उधर मूर्तिपूजा के विरोध में ही केशव का प्रचार है; ठाकुर सनातनपन्थी हैं, तिथि-नक्षत्र, प्राचीन पूजापद्धति आदि सभी कुछ मानते हैं, और उधर इन सब को न मानना ही केशव के धर्म की रीति-नीति है। केशव गृहस्थ हैं, और ठाकुर संन्यास का कोई चिह्न धारण न करते हुए भी संन्यासियों के आदर्श हैं। फिर जिन्हें प्राचीन संन्यासी कहते हैं, ठाकुर वैसे भी नहीं हैं, क्योंकि उनके जटाजूट नहीं, शरीर

पर भस्म नहीं, उलटे पाँव में जूता है, यहाँ तक कि बीच बीच में मोजे भी पहनते हैं। अतः प्राचीन दृष्टि से कहना होगा कि ठाकुर या तो अत्यन्त शृंखलाहीन हैं या फिर अत्यन्त प्रगतिशील। मोटी बात यह है कि पुरातनपन्थियों को उनमें कोई आकर्षण प्रतीत नहीं होता, फिर आधुनिकों की दृष्टि में वे बड़े पिछड़े हुए हैं। शिक्षा में, भाषा के विन्यास में, वेशभूषा में — सभी में पिछड़े हुए हैं। कुर्ता पहनते तो हैं, लेकिन किस प्रकार से उसे पहनेंगे यह निश्चित नहीं; यद्यपि धोती पहनते हैं, पर वह कमर में रहेगी कि बगल में दबी रहेगी, कुछ ठीक नहीं। अतः इस प्रकार के व्यक्ति को लेकर समाज में सब के साथ चलना-फिरना सम्भव नहीं होता। इसीलिए तो महर्षि देवेन्द्रनाथ ने ठाकुर को निमन्त्रण देकर भी फिर बाद में खबर देकर आने से मना कर दिया था। ऐसी थी तब समाज में उनकी स्वीकृति! इस प्रकार के ठाकुर में आधुनिक दृष्टिसम्पन्न केशव ने ऐसा क्या देखा, और फिर ठाकुर भी केशव के प्रति, जो उन दिनों सनातनपन्थियों की दृष्टि में प्रायः विधर्मी थे, क्या देखकर इतने आकृष्ट हुए थे? जो हो, हम जानते हैं कि केशव सेन के साथ मास्टर महाशय की बड़ी घनिष्ठता थी — इतनी कि उन्हें भी उनके जहाज में सम्मानपूर्वक स्थान मिला था। अब वे ब्राह्मभक्तों की दृष्टि से ठाकुर को देखेंगे, फिर ठाकुर की दृष्टि से भी देखेंगे कि ब्राह्मभक्त किस प्रकार दिखाई देते हैं। यह कौतूहल लिये हुए वे आये हैं, देख रहे हैं और वर्णन कर रहे हैं।

इधर ठाकुर नौका पर चढ़ते ही समाधिस्थ हो गये। ठाकुर ने मन की बात खोलकर नहीं कही, इसलिए हम नहीं जानते कि वे अचानक समाधि में क्यों चले गये। पर अनुमान से यह बात समझ में आती है कि हो सकता है उस समय उनके मन में केशव की बात आयी हो — धर्मात्मा केशव, भक्त केशव, ईश्वरानुरागी केशव की बात — और वही सोचते सोचते उनके मन में भगवान् की बात आयी हो, इसलिए वे समाधिस्थ हो गये हों। ब्राह्मभक्त इस देवदुर्लभ दृश्य का आनन्द ले रहे हैं। भगवान् का चिन्तन करते हुए मनुष्य किस सीमा तक तन्मय हो सकता है कि उसे देहज्ञान तक न रहे, यह बात किताबों में लिखी मिल सकती है, लेकिन कितने लोगों ने इस स्थिति को देखा है? यह कोई आवेश की अवस्था नहीं है। आवेश तो मूर्छा या अज्ञान की अवस्था होती

है। हमारे कुछ मित्रों ने वैसी दशा का अनुभव किया है। कई बार कीर्तन करते करते वे सुध-बुध भूल जाते थे। उन्हें उस समय जैसे कोई बाहरी ज्ञान नहीं रहता था, वैसे ही भीतरी ज्ञान भी नहीं रहता था। यह कोई अनुभूति नहीं है, बल्कि अनुभूति का लोप है। मैं सब प्रकार की भावसमाधि के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कह रहा हूँ, साधारण रूप से जो बातें हमारी आँखों के सामने दिखाई पड़ती हैं, उनकी बात कहता हूँ। इतना इसलिए कहा कि हम लोगों को इस सम्बन्ध में खूब सावधान रहने की आवश्यकता है, और यह न जानने से हम बाह्य सादृश्य को देखकर साधनापथ की एक अनुन्नत अवस्था को उन्नत आध्यात्मिक अवस्था समझने की भूल कर सकते हैं। लेकिन ठाकुर की अवस्था भिन्न प्रकार की है। वे आनन्द के सागर में निमज्जित हैं; उनके चारों ओर आनन्द लहरें मार रहा है और वही आनन्द उनके मुखमण्डल पर झलक रहा है।

जो हो, बड़ी सावधानी से उन्हें जहाज पर चढ़ाया गया। वे चल नहीं पा रहे हैं, कोई भी इन्द्रिय कार्य नहीं कर रही है। किसी प्रकार उनको केबिन पर बैठाया गया। चारों ओर ठेलमठेल मच गयी। समाधि से उतरते समय उनके मुख से पहला वाक्य निकला, "माँ, मुझे यहाँ क्यों ले आयी? क्या मैं इन लोगों की बेड़ में से इनकी रक्षा कर सकूँगा?"

ठाकुर ने इस प्रकार कशाघात करते हुए और भी अनेक बार अनेक स्थानों पर बात कही है। लेकिन ऐसे कशाघातों से हम लोगों के मन में द्वेषभाव उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि जो ये कशाघात कर रहे हैं, वे हमारे प्रति अपार करुणासम्पन्न हैं। हम लोग जिस तरह की गाढ़ी नींद में सो रहे हैं, बिना ऐसी चाबुक की मार लगे हमारी वह नींद भागेगी कैसे? हम जानते हैं कि एक ओर वे तीखी समालोचना करते हैं, तो दूसरी ओर हमारे लिए उनमें अपार सहानुभूति और कल्याणकामना है – ऐसी कल्याणकामना कि वे अपनी मुक्ति को भी तुच्छ मानकर माँ से कहते हैं, "माँ, मुझे बेहोश न कर, मैं इन लोगों से बात करूँगा।" जिस समाधि-अवस्था को प्राप्त करने के लिए ऋषि-मुनि-योगीजन जन्म-जन्मान्तरों तक साधना करते रहते हैं, जीवों का दुःख दूर करने के लिए वे उस अवस्था को भी तुच्छ मानकर तिरस्कृत कर देते हैं। इसीलिए ठाकुर जब यह कहते हैं कि "माँ, क्या मैं इन लोगों की बेड़ में से

इनकी रक्षा कर सकूँगा", तब उनका अभिप्राय यह है कि 'माँ, मुझे शक्ति दे, सामर्थ्य दे, जिससे मैं इन लोगों की इस बेड़ को तोड़ इन्हें मुक्त कर सकूँ।'

इसके पश्चात् एक भक्त ने कहा, "पवहारी बाबा ने अपने कमरे में आपका एक फोटो रखा है।"

ठाकुर हँसकर बोले, "इस खोल का ?"

## ठाकुर की समाधिमूर्ति और फोटो

जिनका फोटोग्राफ है, उनके आदर्श के स्मारक की दृष्टि से यदि फोटोग्राफ हो तो अन्य बात है, पर उसे घर को सजाने की दृष्टि से अन्य वस्तुओं में एक वस्तु की तरह रखा गया हो तो उस फोटोग्राफ के रखने की कोई सार्थकता नहीं है। यह बात वे पवहारी बाबा को लक्ष्य करके नहीं कह रहे हैं; यह वे सर्वसामान्य के लिए कहते हैं। फोटोग्राफ के पीछे जो तत्त्व है, जो आदर्श है, यदि हम उस तत्त्व को, उस आदर्श को ग्रहण करने की दृष्टि से उस फोटोग्राफ को देखें, तभी उस पर फूल चढ़ाना, उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करना सार्थक है, अन्यथा वह मात्र एक चित्र होकर रह जाएगा, जो कभी हमें कल्याण के मार्ग में आगे नहीं ले जा सकेगा।

हम जानते हैं कि इस समय उनके जिस फोटोग्राफ की घर-घर में पूजा हो रही है, उसे देखकर उन्होंने स्वयं एक दिन प्रणाम किया था। कहा था, "एक दिन इस चित्र की घर-घर में पूजा होगी। यह एक उच्च योग की अवस्था है।" उन्होंने तो पहचान लिया था, पर क्या हम उसी दृष्टि से देखकर, विचार करके इस फोटोग्राफ को अपने आध्यात्मिक पथ में प्रगति का उपाय समझकर पूजा करते हैं ? यदि ऐसा करें, तभी वह पूजा सार्थक होगी, अन्यथा सब व्यर्थ है। 'इस खोल का' कहकर ठाकुर मानो यही भाव प्रकट करना चाहते हैं। तभी तो हम देखते हैं कि जिन ठाकुर के लिए शरीर अत्यन्त तुच्छ था, वे ही ठाकुर अपनी समाधि-अवस्था का चित्र देखकर स्वयं अभिभूत हो यह कहते हुए प्रणाम करते हैं कि कालान्तर में "घर-घर में इसकी पूजा होगी।" उनकी वह भविष्यवाणी कहाँ तक सफल हुई है, इसका प्रमाण आज हमारे चारों ओर स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

## भक्तों का हृदय उनका निवासस्थ '

ठाकुर कहते हैं, "पर एक बात है, भक्तों का हृदय है उनका निवासस्थान, उनका बैठकखाना।" ठाकुर इस बात को बहुत जोर देकर कह रहे हैं कि संसार में सब कुछ अनित्य है, इसमें सन्देह नहीं; पर इन्हीं अनित्य वस्तुओं के भीतर भी कहीं कहीं भगवान का विशेष प्रकाश देखा जाता है। अनित्य वस्तु कहकर यदि हम समस्त जगत् को तुच्छ समझ लें, तब तो उनको पकड़ने का जो सूत्र हमारे पास है वह छिन्न हो जाएगा। उनका अनुभव हम इस जगत् में न करके बाहर कहीं करेंगे, ऐसा तो हम सोच ही नहीं सकते। अपने चिन्तन के राज्य में हम ऐसा मानते हैं कि वे इस समस्त जगत् में परिव्याप्त हैं, अथवा यह कि वे हमारे हृदय के मध्य में विराजमान हैं। फिर हम यह भी कहते हैं कि वे अन्तःकरण में विद्यमान हैं — 'तदन्तरस्य सर्वस्य' — वे इस समस्त के भीतर रहते हैं और फिर 'बाह्यतः' (बाहर) भी रहते हैं। यहाँ यह जो बाहर कहा, सो बाहर माने कितनी दूर? उसकी सीमा हम नहीं जानते। तो फिर बाहर और भीतर किस दृष्टि से? किसी एक सीमा को लक्ष्य करके कह सकते हैं कि उसके भीतर और बाहर। देह को एक सीमा मान लिया; मानकर कहा कि वे इस देह के भीतर हैं, फिर बाहर भी हैं। इसीलिए साधकों ने कहा है कि भक्तों के हृदय में उनका प्रकाश होता है। वे हैं तो सर्वत्र, पर "भक्त का हृदय उनका बैठकखाना है" अर्थात् वहाँ वे विशेष भाव से विराजमान हैं। विशेष भाव माने क्या? क्या वे वहाँ और भी घनीभूत भाव से रहते हैं? भगवान् ऐसी कोई वस्तु नहीं हैं, जिसको एक स्थान पर घना कर दिया जाए और दूसरे स्थान पर तरल। वे सर्वत्र हैं। समस्त विश्व में अथवा उसके बाहर वे जिस प्रकार विराजमान हैं, उसी प्रकार वे एक रजकण में भी हैं। लेकिन फिर भी हमारे मन में प्रश्न उठता है कि हम उनको कहाँ पर पकड़ेंगे? तो, हमें पकड़ा देने के उद्देश्य से कहते हैं कि यदि पकड़ना हो तो ऐसा स्थान है, जहाँ उनका प्रकाश अधिक है। ऐसा नहीं कहा जा रहा है कि उनकी 'सत्ता' अधिक है, कहा जा रहा है कि 'प्रकाश' अधिक है। और वह है भक्त के हृदय में। अतएव उनका अनुभव करने के लिए हमें उस भक्तहृदय में खोजना होगा, जहाँ उनका सान्निध्य हम सहज ही समझ सकेंगे। यदि ऐसा न हो तो भले ही वे समस्त विश्व में

ओतप्रोत होकर विद्यमान हों, पर विश्व के हम जैसे क्षुद्रातिक्षुद्र जीवों का इन विश्वव्यापी को लेकर क्या लाभ, जिन्हें न हम पकड़ सकें, न छू सकें, न जिनकी धारणा कर सकें ? हमारा प्रयोजन तो उससे सधेगा, जिसे हम पकड़ सकें, छू सकें, जिसका हम अनुभव कर सकें। इसीलिए ठाकुर ने हम लोगों की पहुँच के भीतर उनका पता दिया है, और वह है भक्त का हृदय।

## ज्ञानी और भक्त

इसके पश्चात् ठाकुर भागवत की बात कहते हैं – "ज्ञानी जिसे ब्रह्म कहते हैं, योगी उसी को आत्मा कहते हैं और भक्त – भगवान्।" कहना अनावश्यक है कि यहाँ ब्रह्मज्ञानी कहने से जिन ब्राह्मसमाजी भक्तों का बोध होता है, वे ठीक ज्ञानी की कोटि में नहीं आते। वे भक्त हैं। ठाकुर ने यह बात अन्यत्र अन्य प्रकार से कही है कि ज्ञानी वह है, जो विचार करते हुए तत्त्व को जानने की चेष्टा करता है, और ब्राह्मभक्त तो भगवान् का उनके गुणों के द्वारा आस्वादन करने का प्रयास करते हैं। अतः वे निराकारवादी तो हैं, लेकिन सगुण ब्रह्म के उपासक हैं। वे ऐसे भगवान् को चाहते हैं जिनके भीतर दया है, स्नेह है, माया-ममता है, जिन्हें हम माता या पिता कहकर सम्बोधित करके तृप्ति पाते हैं। हम ऐसे भगवान् को चाहते हैं, जो हमारी प्रार्थना सुनें, हमारी आकांक्षाओं को पूर्ण करें, हमें मुक्ति के पथ से ले चलें। ब्रह्म यह सब नहीं करता। तो फिर ब्रह्म का चिन्तन क्यों करना ? जो अद्वैतवेदान्तवादी हैं, वे फिर उस ब्रह्म की बात क्यों करते हैं ? ब्रह्म भला उनके किस काम का ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि ब्रह्म को किसी काम में लाना नहीं है, अपितु आवश्यकता है ब्रह्म को जानने की। यह जानना यदि हो जाए, तब हम समझ सकेंगे कि हम यह जो सुख-दुःखादि का भोग कर रहे हैं, वह हमारे अज्ञान के कारण हो रहा है। हमारा स्वरूप वह परब्रह्म है, जो सब प्रकार से सुख-दुःख के अतीत है। जब ब्रह्मानुभूति में प्रतिबन्धक तत्त्व दूर हो जाएँगे, तब मनुष्य अपने स्वरूप में स्थित होकर ब्रह्म हो जाएगा। ठाकुर कह रहे हैं, लेकिन भक्तों का भाव ऐसा नहीं है। वे चीनी होना नहीं चाहते, चीनी खाना पसन्द करते हैं। वे उसका आस्वादन करना चाहते हैं – माँ के रूप में, पिता के रूप में, सखा के रूप में, आत्मीय-परिजन आदि विभिन्न रूपों में। अब उस आस्वादन के लिए

उसके रूप की कल्पना करनी होगी या नहीं, यह बात यहाँ पर गौण है। ब्राह्मभक्त रूप की कल्पना नहीं करते, लेकिन आस्वादन की आकांक्षा रखते हैं। अतः वे भक्त हैं। इस दृष्टि से विचार करके ठाकुर केशव सेन के भीतर एक ऐसा भक्ति से भरा हृदय देखते हैं, जहाँ भगवान् के लिए व्याकुलता है, आन्तरिकता है। और यही केशव के साथ ठाकुर के मिलन का वह सूत्र है, जिसकी खोज मास्टर महाशय ने इस प्रसंग में की थी।

□ □ □

# ८. केशवचन्द्र सेन के साथ - २

(वचनामृत १।१३।४ : २७ अक्टूबर १८८२)

### श्रीरामकृष्ण और केशव

केशव सेन ठाकुर को दक्षिणेश्वर से स्टीमर द्वारा घुमाने ले जाने के लिए आये हुए हैं। साथ में बहुत से भक्त हैं। ठाकुर नाव से जाकर स्टीमर पर चढ़ेंगे। वे नाव पर आते ही समाधिस्थ हो जाते हैं। काफी प्रयत्न करके उन्हें थोड़ा होश में लाया गया, फिर स्टीमर पर चढ़ाया गया। तब भी भावस्थ हैं। धीरे धीरे उन्हें ले जकर केबिन के बीच बैठाया गया। सभी भक्तगण उनके पास रहना चाहते हैं, जिससे उनकी प्रत्येक बात को सुन सकें। जिसे जहाँ जगह मिली, भीतर बैठ गया। वहाँ सब के लिए स्थान नहीं था। इसलिए अनेक लोग बाहर से ही उनकी बात सुनने के लिए आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगे। ठाकुर फिर से समाधिस्थ हो गये — एकदम होश गँवा बैठे।

समाधि-भंग होने पर ठाकुर अस्पष्ट स्वर में बोले, "माँ, मुझे यहाँ क्यों ले आयी ? क्या मैं इन लोगों की बेड़ के भीतर से रक्षा कर सकूँगा ?" ठाकुर ने किस अर्थ में यह बात कही यह तो वे ही जानें। वहाँ पर मास्टर महाशय का मन्तव्य यह है कि सम्भवतः ठाकुर यह कहते हैं — ये जो सारे जीव माया की बेड़ में बँधे हैं, उनका वहाँ से उद्धार क्या सम्भव है ? मानो जगन्माता से उनका यह प्रश्न है, यह अभिप्राय है। इसके बाद ठाकुर यह बात विस्तार से कह रहे हैं कि एक ही वस्तु को ज्ञानी, योगी और भक्त क्रमशः ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् कहकर पुकारते हैं। इस सब की चर्चा हम अपने तीसरे प्रवचन में कर चुके हैं।

श्रीरामकृष्ण अविरल रूप से भगवत्प्रसंग कर रहे हैं। भक्तगण सुन रहे हैं। श्री 'म' कहते हैं कि भक्तगण उस अमृतपान में इतने तन्मय हैं कि स्टीमर जो चल रही है, इसका उनको ध्यान ही नहीं। श्रीरामकृष्ण के मुख से जो वचनामृतधारा बह रही है, उसे पीते हुए सभी मत्त हैं।

## वेदान्तमत, ब्राह्ममत और तन्त्रमत

ठाकुर सर्वप्रथम कहते हैं, "वेदान्तवादी ब्रह्मज्ञानी कहते हैं कि सृष्टि, स्थिति, प्रलय, जीव-जगत् यह सब शक्ति का खेल है।" वे ब्राह्मभक्तों के सामने थे, अतः उन्होंने 'वेदान्तवादी ब्रह्मज्ञानी' कहा। पहले ब्राह्म लोगों को 'ब्रह्मज्ञानी' शब्द से सम्बोधित किया जाता था। इसी कारण वे 'वेदान्तवादी ब्रह्मज्ञानी' कहकर दोनों का अन्तर स्पष्ट कर दे रहे हैं। भले ही केशव के अनुयायी भी ब्रह्मज्ञानी के नाम से परिचित हैं, पर वे वेदान्तवादी ब्रह्मज्ञानी नहीं हैं अर्थात् वे निर्गुण-निराकार ब्रह्म के उपासक नहीं हैं। निर्गुण-निराकार ब्रह्म को वे स्वीकार नहीं भी करते। वे निराकार लेकिन सगुण ईश्वर का भजन करते हैं। निराकार-निर्गुण तत्त्व को ब्रह्म कहा जाता है। जब वह सगुण होता है, तब भले ही उसके आकार हो या न हो, साधारणतया उसका ब्रह्म शब्द के द्वारा उल्लेख नहीं किया जाता, तब उसे कहा जाता है 'ईश्वर'। ब्राह्म ब्रह्मज्ञानी इसी ईश्वर पर विश्वास करते हैं। और वेदान्तवादी ब्रह्मज्ञानी निर्गुण-निराकार ब्रह्म पर विश्वास करनेवाले होते हैं। इसीलिए वेदान्तवादी ब्रह्मज्ञानियों को ब्राह्म ब्रह्मज्ञानियों से अलग करते हुए ठाकुर कहते हैं, "वेदान्तवादी ब्रह्मज्ञानी कहते हैं कि सृष्टि, स्थिति, प्रलय, जीव-जगत् – यह सब शक्ति का खेल है। विचार करने से यह सब स्वप्नवत् है; ब्रह्म ही वस्तु है और सब अवस्तु; शक्ति भी स्वप्नवत् है, अवस्तु है।"

यहीं पर वेदान्त और तन्त्रमत का भेद है। तन्त्रमत में शक्ति को मिथ्या नहीं कहते। जैसे ब्रह्म सत्य है, वैसे ही शक्ति भी सत्य है। ब्रह्म और शक्ति दो पृथक् वस्तुएँ हैं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। एक ही तत्त्व दो रूपों में अभिव्यक्त है। जब वह तत्त्व सृष्टि, स्थिति और लय करता है, तब उसे 'शक्ति' कहा जाता है। और जब उसमें सृष्टि, स्थिति आदि क्रिया नहीं होती, तब उसी को 'ब्रह्म' कहकर पुकारा जाता है। अतः तन्त्रमत में शक्ति भी ब्रह्म के ही समान सत्य है। अब प्रश्न उठता है कि दो सत्य होने से द्वैतापत्ति होगी या नहीं ? तन्त्र कहता है – द्वैतापत्ति नहीं होगी, क्योंकि ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं, एक ही तत्त्व हैं। किन्तु वेदान्तवादी कहते हैं – शक्ति मिथ्या अनिर्वचनीय है; ब्रह्म ही वस्तु है, और शेष सब अवस्तु। यह हुआ वेदान्त और शाक्तमत का पार्थक्य।

### श्रीरामकृष्ण : ब्रह्म और शक्ति अभेद

इसके पश्चात् ठाकुर कहते हैं, "किन्तु हजार विचार करो, समाधिलाभ न होने तक शक्ति के राज्य से बाहर जाने का उपाय नहीं है।" जिस अवस्था में किसी क्रिया का, जगत् का बोध नहीं रहता, उसे समाधि की अवस्था कहते हैं। उस अवस्था में साधक भले ही शक्ति के इलाके से बाहर चला जाता है, किन्तु जब तक जगत् का, 'मैं' का बोध है, तब तक शक्ति के इलाके से बाहर जाने का उपाय नहीं है। ठाकुर इसी बात को कहते हैं, "हजार उपाय करो, समाधिलाभ न होने तक शक्ति के राज्य से बाहर जाने का उपाय नहीं है। 'मैं ध्यान कर रहा हूँ' 'मैं विचार कर रहा हूँ' – यह सब शक्ति के राज्य में, उसके ऐश्वर्य की सीमा में है। इसीलिए ब्रह्म और शक्ति अभिन्न है। एक को स्वीकार करने से दूसरे को भी मानना पड़ता है।" ऐसा कहकर ठाकुर यह बताते हैं कि इन दोनों ही अभिन्न वस्तुओं को अनिवार्यतः स्वीकार करना पड़ता है। ठाकुर की यह बात वेदान्तदर्शन की ओर से देखने पर एक नया दृष्टिकोण उपस्थित करती है। लेकिन इसे ठीक नया कहना भी उचित नहीं – कहना होगा कि वेदान्तदर्शन में शक्ति की मात्र आपेक्षिक सत्ता स्वीकार की गयी है, लेकिन ठाकुर इस शक्ति पर विशेष जोर देते हैं। वे यह बात बार बार कहते हैं कि जब तक हम शरीर-मन से बँधे हुए हैं तब तक शक्ति की प्रभुता उपेक्षणीय नहीं है। देहधारण करने पर शक्ति को मानना ही होगा।

आपेक्षिक सत्ता कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक हम ब्रह्म को कारणरूप कहते हैं, तब तक उसका यह कारणरूप होना ही शक्ति का स्वरूप होना है; पर जब उसे कार्य-कारण से अतीत कहा जाता है, मात्र तभी वह ब्रह्मस्वरूप है। जब उसे जगत्कारण कहते हैं अर्थात् 'ईश्वर' कहते हैं, तब भी वह शक्ति के ही राज्य के भीतर की बात है। वेदान्तशास्त्र में जहाँ पर जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय के कर्ता को ब्रह्म कहा गया है, ध्यान रखना होगा कि वह शुद्ध ब्रह्म नहीं है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति' (तैत्तिरीय उप. ३.१) – 'जिससे ये सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा वे सब जीवित रहते हैं तथा प्रलयकाल में जिसमें सभी लय को प्राप्त होते हैं, उसे विशेष रूप से जानने की

इच्छा करो, वही ब्रह्म है।' यहाँ पर ब्रह्म निर्गुण-निराकार सत्ता के रूप में निर्दिष्ट नहीं हुआ है। जब वह निर्गुण होता है, तब सृष्टि आदि क्रिया नहीं होती। जो प्रकृति निर्गुणात्मक है, ब्रह्म से अभिन्न है, वह सांख्य की प्रकृति नहीं है, क्योंकि तन्त्र में उसे 'जड़' नहीं कहा जाता। ऐसी जो प्रकृति है, उसे ही शक्ति कहते हैं, वही आद्याशक्ति है, वही काली है। वही इस जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय करनेवाली है। उसी को परमेश्वरी या परमेश्वर या जगत्कारण ब्रह्म कहा जाता है। अतः इस दृष्टि से देखने पर यह ध्यान रखना होगा कि ईश्वर तक सब कुछ शक्ति के भीतर है, शक्ति के बाहर नहीं। ठाकुर कहते हैं कि "मैं ध्यान करता हूँ, मैं विचार करता हूँ, यह सब शक्ति के राज्य में, उसके ऐश्वर्य की सीमा में है।"

## तोतापुरी की नयी दृष्टि

हमें ध्यान रखना होगा कि तोतापुरी ब्रह्मज्ञानी थे। उन्होंने साक्षात् अद्वैततत्त्व की अनुभूति की थी। इस सम्बन्ध में सन्देह करने की कोई गुँजाइश नहीं है; क्योंकि ठाकुर यह बात बार बार कहा करते थे। ऐसे तोतापुरी भी भ्रम में पड़े थे कि शक्ति मिथ्या है। उन्होंने दीर्घकाल तक शक्ति की सत्यता को स्वीकार नहीं किया। बाद में अनेक प्रकार की अवस्थाओं में से गुजरकर अन्त में उन्हें उस जगन्माता को, आद्याशक्ति को स्वीकार करना पड़ा था। इससे समझा जा सकता है कि इस प्रसंग में ठाकुर की एक अपूर्व शक्ति ने कार्य किया था, जिसके परिणामस्वरूप तोतापुरी जैसे चोटी के वेदान्तवादी भी शक्ति को मानने के लिए विवश हुए थे। ठाकुर भी इस पर बड़े आनन्दित हुए थे कि तोतापुरी ने अद्वैतवादी ब्रह्मज्ञानी होकर भी शक्ति को मान लिया। यह जो शक्ति का मानना है; यह मानो अद्वैतवेदान्ती तोतापुरी के भी ज्ञान की पूर्णता है। प्रश्न हो सकता है कि क्या तोतापुरी के ज्ञान में कमी थी? नहीं, उनके ब्रह्मज्ञान में कमी नहीं थी। वे ब्रह्मज्ञ थे। इसमें सन्देह नहीं कि उनका ब्रह्मज्ञान पूर्ण था। किन्तु ब्रह्म के जिस वैचित्र्यबहुल स्वरूप की बात शास्त्रों ने कही है, उसके सम्बन्ध में उन्हें विशेष जानकारी नहीं थी ऐसा लगता है। उनकी साधनाप्रणाली में यह पक्ष मानो पूरी तरह उपेक्षित ही रह गया प्रतीत होता है। अतः शक्ति के अस्तित्व के सम्बन्ध में यदि वे अनभिज्ञ थे तो इसमें

कोई आश्चर्य नहीं। जब किसी साधनापद्धति को लेकर चलना होता है, तब उसके सम्बन्ध में यथोचित ज्ञान मात्र शास्त्रों से नहीं होता। इसीलिए तोतापुरी में शक्ति के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष जानकारी का अभाव था। उनका वह अभाव ठाकुर के सान्निध्य में आने से दूर हुआ।

लेकिन पहले वे ठाकुर के इस भाव को मानो समझ ही नहीं सके। हम जानते हैं कि जब उन्होंने ठाकुर को संन्यास देना चाहा था, तो ठाकुर ने कहा था, "ठहरो, मैं माँ से पूछ आता हूँ।" फिर वे मन्दिर में जाकर माँ से पूछ आये और बोले, "हाँ, मैं वेदान्तसाधना करूँगा।" तोतापुरी थोड़ा हँसे – इधर वेदान्तसाधना भी करेगा और उधर मन्दिर के भीतर पत्थर की मूर्ति से भी पूछेगा। तोतापुरी के लिए देवी मात्र पाषाणमयी थी। उसका वास्तविक स्वरूप वे नहीं जानते थे, न कभी जानने की आवश्यकता ही अनुभव की थी। वे ही तोतापुरी ठाकुर के साथ रहते हुए धीरे धीरे उनसे अनेक बातें सीखते हैं। जैसा कि दृष्टान्त दिया जाता है, एक दिन शाम को पंचवटी में तोतापुरी के पास बैठे धर्मप्रसंग करते हुए, सन्ध्या हो जाने पर, ठाकुर हाथ से ताली बजाते हुए भगवन्नाम करने लगे। तोतापुरी चकित हो गये, उपहास करते हुए बोले, "अरे, क्यों रोटी ठोकता है!" ठाकुर तो हाथ से ताली बजाते हुए भगवान् का नाम ले रहे हैं और तोतापुरी मजाक कर रहे हैं कि हाथ से ठोंक-ठोंककर रोटी क्यों बना रहा है। तोतापुरी जानते थे कि ठाकुर असाधारण दैवी सम्पदा लेकर जन्मे हैं, उन्हें ब्रह्मज्ञान हो गया है। पर यह देखकर वे विचार करते हैं कि ठाकुर अपने पूर्व संस्कारों से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं, यह मानो उन्हीं संस्कारों की पुनरावृत्ति हो रही है, तभी तो हाथ से ताली बजाकर भगवान् का नाम ले रहे हैं। ठाकुर हँसकर बोले, "हटो जी, मैं तो कहाँ भगवान् का नाम ले रहा हूँ, और तुम कहते हो मैं रोटी ठोक रहा हूँ!" तोतापुरी के उपहास करने पर भी ठाकुर जानते हैं कि एक दिन आएगा, जब तोतापुरी इन सब साधनाओं को भी स्वीकार करेंगे। इसलिए वे धैर्यपूर्वक उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने ऐसा ही धीरज अपने शिष्यों को शिक्षा देने में प्रदर्शित किया था। जब नरेन्द्रनाथ ने ठाकुर के आदेशानुसार अष्टावक्रसंहिता आदि ग्रन्थ पढ़कर कहा था, "अवश्य ही ऋषि-मुनियों का दिमाग बिगड़ गया था, नहीं तो इस प्रकार

की बात वे कैसे लिखते?" – तब ठाकुर बोले थे, "तू यदि इस समय इस बात को नहीं समझ पा रहा है, तो इस कारण ऋषि–मुनियों की निन्दा क्यों करता है?" ठाकुर धीरज रखकर उपयुक्त समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। तत्पश्चात् एक दिन जब नरेन्द्रनाथ ने 'लोटा–कटोरी ईश्वर' कहकर हँसी की, तब ठाकुर ने उनका स्पर्श करते हुए अद्वैततत्त्व के सम्बन्ध में उनके सारे सन्देह दूर कर दिये। तोतापुरी के प्रसंग में भी ठाकुर जानते थे कि वे द्वैतभाव की उपासना की बात बाद में समझेंगे। और सचमुच ही बाद में तोतापुरी को वह समझना पड़ा।

यह जो विभिन्न प्रकार से भगवान् की सत्ता की उपलब्धि है, इस सम्बन्ध में यदि हमें प्रारम्भ से जानकारी न हो, तो बाद में हमें वह जान लेना होगा। विशेषकर जो आचार्य होंगे, उनके लिए यह नितान्त प्रयोजनीय है। जिनके जीवन में इस प्रकार की जानकारी परिपूर्ण मात्रा में आएगी, उन्हीं का जीवन आचार्य के रूप में पूर्ण माना जाएगा। 'आचार्य के रूप में' इसलिए कहता हूँ कि सभी साधकों को सभी अवस्थाओं में से जाने की आवश्यकता नहीं होती। एक साधक यदि किसी प्रणाली का अवलम्बन करके चरम लक्ष्य तक पहुँच जाए, तो वही उसके जीवन के लिए पर्याप्त है, उसी में उसकी पूरी सार्थकता है। किन्तु जो आचार्य होंगे, जो संसार में सब को रास्ता दिखाने आये हैं, उनका इस प्रकार एकांगी दृष्टि लेकर चलने से काम नहीं बनेगा! ऐसी दशा में वे मात्र इस प्रकार के मनोभावयुक्त कुछ ही लोगों की साधना की दृष्टि से सहायता कर सकेंगे – बहुत से लोग उनकी परिधि से बाहर रह जाएँगे। तभी तो ठाकुर ने कहा है, "स्वयं को मारने के लिए एक नहरनी भी पर्याप्त है, लेकिन दूसरे को मारने के लिए अर्थात् दूसरे के साथ यदि लड़ना पड़े, तो ढाल–तलवार की आवश्यकता होती है।" ठीक इसी प्रकार जिनको आचार्य होना होगा, उन्हें जैसा कि ठाकुर ने कहा है, 'सब घरों में से जाकर अपनी गोटी पकानी' होगी। उनके एक ही ओर से जाने से काम नहीं बनेगा। पूरी जानकारी प्राप्त करनी होगी। तोतापुरी को ऐसी पूर्ण जानकारी देने के लिए, भक्तिमार्ग के सम्बन्ध में उनकी अनभिज्ञता को दूर करने के लिए ठाकुर हँसकर बोले, "मैं तो भगवान् का नाम ले रहा हूँ और तुम हो कि उपहास करते

हो – मैं रोटी ठोक रहा हूँ।" यथाक्रम तोतापुरी ने वह भाव प्राप्त किया तथा उसके पश्चात् हम जानते हैं कि किस प्रकार वे जगन्माता का साक्षात् दर्शन प्राप्त कर कृतकृत्य हुए।

### श्रीरामकृष्ण और उनके गुरु

हमें यह जान रखना होगा कि यद्यपि अवतारपुरुष अपने साधनापथ में किसी किसी व्यक्ति का गुरुरूप में वरण करते हैं, लेकिन वे गुरु उनके समान पूर्ण नहीं होते। अवतार के सान्निध्य में आकर, उनकी सहायता से वे क्रमशः पूर्णता को प्राप्त होते हैं। यह बात ध्यान में रखनी होगी। ठाकुर के प्रसंग में यह बात तोतापुरी पर लागू होती है, फिर भैरवी ब्राह्मणी पर भी। एक ओर जैसे तोतापुरी शक्ति के सम्बन्ध में अनभिज्ञ थे, वैसे ही दूसरी ओर भैरवी ब्राह्मणी अद्वैतवेदान्त के सम्बन्ध में पूरी तरह अनभिज्ञ थीं। हम जानते हैं कि जब ठाकुर तोतापुरी की सहायता से अद्वैतवेदान्त की साधना करने जा रहे थे, तो भैरवी ब्राह्मणी ने ठाकुर को सावधान कर दिया था, "बाबा, उन अद्वैतवादी लोगों के साथ इतना मेल-जोल न रखो, इससे तुम्हारी भाव-भक्ति सूख जाएगी। उन लोगों के साथ मिलने से भक्ति की हानि होगी।" तो, अद्वैतवेदान्त के सम्बन्ध में जैसे भैरवी ब्राह्मणी को कोई ज्ञान नहीं था, वैसे ही तोतापुरी को भी द्वैतभाव साधना के सम्बन्ध में, शक्ति के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं थी। भैरवी ने अपना ज्ञान का भण्डार ठाकुर के सम्पर्क में आकर बढ़ाया था। उसी प्रकार तोतापुरी ने भी ठाकुर के सान्निध्य में आकर शक्तिसम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करके अपना ज्ञान और अधिक समृद्ध किया था।

ब्रह्म और शक्ति की अभिन्नता के सम्बन्ध में ठाकुर कहते हैं, "ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं। एक को मानने से ही दूसरे को मानना होगा। जैसे अग्नि और उसकी दाहिकाशक्ति; अग्नि को मानने से ही दाहिकाशक्ति को मानना होगा। दाहिकाशक्ति को छोड़कर अग्नि की कल्पना नहीं की जा सकती; फिर अग्नि को छोड़कर दाहिकाशक्ति की भी कल्पना नहीं की जा सकती। सूर्य को छोड़कर सूर्य की रश्मि की कल्पना नहीं की जा सकती; फिर सूर्य की रश्मि को छोड़कर सूर्य की कल्पना नहीं की जा सकती।"

कहा जाता है – 'शक्ति-शक्तिमतोः अभेदः' अर्थात् शक्ति और

शक्तिमान् दोनों अभिन्न हैं। वस्तु एक ही है, उसके एक पहलू को लक्ष्य कर हम कहते हैं 'शक्ति', फिर उसी के दूसरे पहलू को लक्ष्य कर कहा जाता है 'शक्तिमान्'। शक्ति का जो वैचित्र्य है, उसे अस्वीकार नहीं किया जाता। लेकिन यह न मानने पर कि उस वैचित्र्य के पीछे एक निरपेक्ष सत्ता है, जिसके भीतर कोई परिवर्तन नहीं होता, शक्ति का वह वैचित्र्य समझा नहीं जा सकता। एक स्थायी सत्ता को मानना ही पड़ेगा। फिर साथ ही इस स्थायी सत्ता की जो विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्तियाँ होती हैं, उन्हें भी स्वीकार करना होगा।

### परिणामवाद और विवर्तवाद

दार्शनिक लोग कहते हैं कि अभिव्यक्ति के दो प्रकार हैं। कोई कोई कहते हैं कि ब्रह्म का परिणाम होता है, और दूसरे कहते हैं कि ब्रह्म का विवर्त होता है। असल बात यह है कि चाहे परिणाम कहें या विवर्त, यह सब बात की बात है। जो लोग परिणाम कहते हैं, वे पार्थक्य को प्रत्यक्ष देखते हैं, उन्हें लगता है कि ब्रह्म परिवर्तित हुआ है। दूसरीं ओर अद्वैतवेदान्तवादी कहते हैं, जिसमें भी परिणाम या परिवर्तन होता है वह नश्वर है, वह नित्य नहीं हो सकता। यदि ब्रह्म का परिणाम होता हो तो वह कभी नित्य नहीं हो सकता, वह अनित्य हो जाएगा। अतः फिर उसमें ब्रह्मत्व नहीं रह जाएगा। इस दोष के कारण परिणाम की जो प्रतीति होती है, उसे वास्तविक परिणाम न कहकर वे प्रतीति मात्र कहते हैं; और उसके लिए एक दार्शनिक शब्द का प्रयोग करते हैं, जिसे 'विवर्त' कहते हैं। विवर्त में तत्त्व परिवर्तित नहीं होता। परिणाम में तो तत्त्व ही परिवर्तित हो जाता है, जैसा कि एक श्लोक में कहा गया है —

सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदाहृतः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीर्यते॥

— अर्थात् तत्त्व यदि परिवर्तित न हो, वह एक होता हुआ भी अनेक प्रतीत हो, तो उसे विवर्त कहते हैं; और यदि तत्त्व भी परिवर्तित हो जाए, तो उसे विकार या परिणाम कहते हैं। जैसा कि दृष्टान्त दिया जाता है, दूध परिवर्तित होकर दही के रूप में परिणाम को प्राप्त होता है। दूध अब दूध नहीं रहा, दही हो गया। इसे कहा जाता है विकार या परिणाम। और विवर्त का दृष्टान्त है — एक रस्सी है, वह कभी साँप के रूप में दिखती है, तो कभी लाठी के रूप में, कभी

माला, तो कभी जलधारा के रूप में, और कभी तो ऐसा लगता है मानो जमीन फट गयी है। यह जो अनेक प्रकार की उस रस्सी की प्रतीति है, उससे रस्सी के रूप में परिवर्तन नहीं होता। रस्सी तो जैसी रस्सी है वैसी ही रहती है। इसे कहते हैं विवर्त।

हमारी दृष्टि में यह वैचित्र्यमय जगत् ब्रह्म का चाहे विवर्त हो, चाहे परिणाम, उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, क्योंकि असल बात यह है कि जो वस्तु शब्द से अतीत है, उसको हम शब्द के द्वारा समझाने की चेष्टा मात्र करते हैं किन्तु उसे समझाने में समर्थ नहीं हो पाते।

शास्त्र कहते हैं कि ब्रह्म एक, अद्वितीय होकर भी अनेक रूपों में प्रतीत हो रहा है। उसकी अनेक रूपों में प्रतीत होने की यह जो शक्ति है, उसे अचिन्त्यशक्ति कहा जाता है; उसी को सृष्टि-स्थिति-लयकारिणी शक्ति कहा जाता है। जैसे ब्रह्म अचिन्त्य है, वैसे ही उसकी शक्ति भी अचिन्त्य है, क्योंकि इस शक्ति को बुद्धि के द्वारा नापा नहीं जा सकता। जैसे हम अपनी बुद्धि के द्वारा ब्रह्म को नहीं नाप सकते, वैसे ही उसकी शक्ति को भी। इसलिए ये दोनों हमारे तर्क से अतीत हो जाते हैं और वहाँ पर हम इन दोनों तत्त्वों का पार्थक्य नहीं सोच पाते। इसलिए कहते हैं कि दोनों एक हैं, अभेद हैं। जैसे ब्रह्म तर्कातीत हैं, वैसे ही उसकी शक्ति भी। और चूँकि दो तर्कातीत वस्तुओं को तर्क की सहायता से अलग अलग करना हमारे लिए सम्भव नहीं है, इसीलिए उन्हें हम अभिन्न कहते हैं।

### श्रीरामकृष्ण की उपमा और व्याख्या

ब्रह्म से अभिन्न ब्रह्म की वह शक्ति कभी सक्रिय है तो कभी निष्क्रिय। 'कभी' के द्वारा समय की बात नहीं कही जा रही है, यह कहा जा रहा है किसी व्यक्ति की अवस्थाविशेष के सन्दर्भ में। 'कभी निष्क्रिय है' यह कहने से समझना होगा कि किसी व्यक्ति के लिए एक विशेष अवस्था में वह निष्क्रिय है, फिर उसी व्यक्ति के लिए अन्य अवस्था में वह सक्रिय है। इन दो अवस्थाओं को ध्यान में रखकर कहा जाता है ब्रह्म अथवा शक्ति। यही बात ठाकुर समझा रहे हैं। वे कह रहे हैं – जब वह सृष्टि-स्थिति-लय करता है, तब उसे शक्ति कहते हैं, और जब वह सृष्टि-स्थिति आदि कुछ भी नहीं करता,

तब उसे ब्रह्म कहते हैं। ये 'जब' और 'तब' दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं। इनका तात्पर्य किससे है? क्या समय से? यदि ऐसा हो, तब तो ब्रह्म की शक्ति का यह जो प्रकाश है, वह काल के द्वारा घिर जाएगा, परिमेय हो जाएगा। लेकिन काल के द्वारा उसका परिमाप नहीं होता। अतः हमें समझना होगा कि साधक की अवस्थाविशेष के अनुसार प्रतीति के तारतम्य की बात कही जा रही है। अर्थात् 'जब' माने 'जिस अवस्था में' और 'तब' माने 'उस अवस्था में'। ऐसा बतलाने से शायद बात समझने में सरल होगी।

हम यह बात क्यों कह रहे हैं? जगत् के सम्बन्ध में हमारी धारणा है कि उसकी सृष्टि होती है, स्थिति होती है और उसका लय होता है। लेकिन यह धारणा अत्यन्त सीमित है, क्योंकि यह मात्र उसी जगत् के सम्बन्ध में है, जिसकी हम उपलब्धि करते हैं। हम यह कैसे कह सकते हैं कि और भी इसी प्रकार के अनन्त जगत् नहीं है? ठाकुर ने कहा था, "जगत् क्या इतना सा है? वर्षाऋतु में गंगा में केंकड़े होते हैं – जानते हो? उसी प्रकार असंख्य जगत् हैं।" अतएव हमारे सामने देश–काल आदि से परिच्छिन्न जो जगत् प्रतीत होता है, उस प्रकार के अनन्त जगत् हैं। जब एक जगत् में प्रलय होता है, तब सम्भव है, दूसरे जगत् में सृष्टि की धारा चल रही हो। ऐसे प्रलय को खण्डप्रलय कहा जाता है। महाप्रलय इससे भिन्न है। महाप्रलय की अवस्था में सृष्टि कहीं भी नहीं रहती। कैसे जानेंगे कि तब सृष्टि कहीं भी नहीं रहती है? कौन बता सकता है कि समस्त सृष्टि का लोप हुआ कि नहीं? कोई नहीं बता सकता। इसलिए इस प्रकार से उसे समझने का प्रयत्न न कर साधक के अनुभव के भीतर से उसे समझना होगा।

## साधक शक्ति के राज्य के अधीन

सृष्टि-स्थिति-प्रलय का अर्थ क्या है? कार्य का कारण में लय होता है। कार्य स्थूल वस्तु है और कारण सूक्ष्म। अतः स्थूल का सूक्ष्म में लय होता है। फिर कारण महाकारण में लीन हो जाता है। यह जो लय होना है, वह किसी काल के द्वारा परिच्छिन्न होनेवाली बात नहीं है। इसे अवस्था का विभाजन मानने पर कह सकते हैं कि जिस अवस्था में हमें स्थूल जगत् की प्रतीति नहीं हो रही है, उस अवस्था में स्थूल जगत् सूक्ष्म में लय को प्राप्त हो

गया है; तथा मन की जिस अवस्था में सूक्ष्म जगत् की प्रतीति नहीं होती, उस अवस्था में सूक्ष्म जगत् कारण में लीन हो गया है। मन की जिस अवस्था में कारण की भी प्रतीति नहीं होती, उस अवस्था में कारण महाकारण में अर्थात् कारणातीत सत्ता में, जिसे तुरीय कहा जाता है, लीन हो गया, ऐसा माना जाएगा। कारणातीत सत्ता है इसीलिए स्थूल, सूक्ष्म और कारण का क्रमविकास होना सम्भव होता है। अतः हमें अपने आप को छोड़कर, अर्थात् द्रष्टा अथवा अनुभवकर्ता को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय अवस्थाओं पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए वेदान्त कहता है कि सृष्टि-स्थिति-प्रलय की यह सब जो बात शास्त्रों में है, वह केवल हमें अद्वय ब्रह्मतत्त्व में पहुँचा देने का उपाय है। 'माण्डूक्यकारिका' (३.१५) में कहा गया है –

मृत्लोहविस्फुलिंगाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन॥

– यह जो मृत्तिका (छान्दोग्य उप. ६.१.४), लौहखण्ड (छान्दोग्य उप. ६.१.५) या विस्फुलिंग (मुण्डक उप. २.१.१) का दृष्टान्त देकर सृष्टि की बात को अनेक प्रकार से कहा गया है, वह केवल उस ब्रह्मज्ञान की बात को समझाने के लिए ही, जीव और ब्रह्म के ऐक्य को बुद्धि में प्रतिष्ठित करने के लिए ही है, उसका अन्य और कोई तात्पर्य नहीं है। वास्तव में ब्रह्म में कोई भेद है ही नहीं, क्योंकि जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय अथवा स्थूल, सूक्ष्म, कारण अवस्थाओं की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। यही बात इस माण्डूक्यकारिका में कही गयी है। यदि ऐसा है, तो जगत्कारणत्व को हमारी इस जगत्-अनुभूति की अपेक्षा है, क्योंकि जगत्-अनुभूति ही जगत्कारणत्व का आधार है। अतः जब तक हम जगत्स्रष्टा तक की कल्पना करते हैं, तब तक हम 'शक्ति के राज्य' में है। जहाँ तक साधन का स्तर चल सकता है, वहाँ तक शक्ति का राज्य है। और अगर कोई साधना के समस्त सोपान पार करके स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, ब्रह्मस्थ होता है, तो वह शक्ति का इलाका पार कर जाता है।

बात यह है कि उस सत्य तक पहुँचने के लिए विभिन्न सोपानों की

आवश्यकता होती है। विभिन्न स्तरों पर एक-एक पग आगे बढ़ते हुए हम अन्त में लक्ष्य में पहुँच जाते हैं। प्रत्येक सोपान हमारे लिए आवश्यक है। ऐसा नहीं होने से छत पर चढ़ जाना हमारे लिए सम्भव नहीं है। और जब छत पर पहुँच गये, तब सीढ़ियों को अवास्तविक कहने में भी कोई सार्थकता नहीं है। सीढ़ियों के रहने से ही हमारा छत पर पहुँचना सम्भव हो सका। शक्ति का राज्य है इसलिए हम शुद्धब्रह्म में प्रतिष्ठित हो सकते हैं, और ऐसा होना सम्भव है। यदि वह न होता, तो फिर शुद्धब्रह्म की भी कोई सार्थकता नहीं रहती। कौन उसे जानता ? वह तो स्व-स्वरूप में ही अवस्थित रहता। और हम जो उसकी जगत्कारण इत्यादि कहकर व्याख्या कर रहे हैं, वह सब अर्थहीन हो जातीं, क्योंकि हमारी ये सब बातें शक्ति के ऊपर ही निर्भर करती हैं।

ठाकुर कहते हैं, "ब्रह्म को छोड़कर शक्ति की, शक्ति को छोड़कर ब्रह्म की धारणा नहीं की जा सकती। नित्य को छोड़कर लीला की, लीला को छोड़कर नित्य की धारणा नहीं की जा सकती।"

**श्रीरामकृष्ण – ब्रह्म और शक्ति, नित्य और लीला**

ठाकुर 'शक्ति' और 'ब्रह्म' ये दो शब्द कहते हैं। उसके तुरन्त बाद ही शब्द बदलकर कहते हैं – 'लीला' और 'नित्य'। लीला माने परिवर्तन, और परिवर्तन कहने से ही बोध होता है कि उसके पीछे एक अपरिवर्तित सत्ता है। वह न होने से किसकी तुलना में परिवर्तन होगा ? इसीलिए 'परिवर्तन' शब्द कहने के साथ ही साथ एक और तत्त्व आ जाता है, जो अपरिवर्तनशील है। उसी को पृष्ठभूमि में रखकर, उसके साथ तुलना करके हम परिवर्तन का अनुभव करते हैं। ऐसा न हो तो परिवर्तन कहने के लिए कोई वस्तु रह नहीं जाती। हम ट्रेन से जा रहे हैं। जैसे वह ट्रेन चल रही है, ठीक वैसे ही यदि उसके आसपास की जमीन, वृक्ष, घर आदि चलने लगते, तब तो ट्रेन का चलना समझ में नहीं आता। ट्रेन चल रही है, इस वाक्य का भी प्रयोग नहीं होता, क्योंकि तब सारा दृश्य एक ही प्रकार का दिखाई देता। लेकिन जब हम देखते हैं कि हम ट्रेन में बैठे हुए हैं और वृक्ष आदि अपना स्थान बदल रहे हैं, घर-मकान सब सरकते जा रहे हैं, तब हमें लगता है कि परिवर्तन हो रहा है। परिवर्तन में कौनसा स्थायी है और कौनसा अस्थायी, यह बाद की बात है। हमारा कहना

यह है कि बिना एक स्थायी वस्तु की धारणा किये हम किसी अस्थायी वस्तु का, परिवर्तन का अनुभव नहीं कर सकते। इसी प्रकार बिना अस्थायी वस्तु की कल्पना के हम किसी स्थायी वस्तु की भी कल्पना नहीं कर सकते; क्योंकि स्थायी और अस्थायी ये ऐसे दो शब्द हैं, और अर्थबोध के लिए परस्पर एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हैं कि एक को छोड़ दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती।

नित्य और लीला भी ठीक इसी प्रकार है। भगवान् की यह जो सृष्टि-स्थिति-लय-लीला चल रही है, इस लीला का तात्पर्य है परिवर्तन। यदि हम एक स्थायी वस्तु की, नित्य वस्तु की धारणा न करें, तो इस परिवर्तन की कल्पना ही नहीं कर पाएँगे। अतएव नित्य को छोड़कर लीला की कल्पना नहीं की जा सकती। फिर लीला को छोड़कर नित्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती, जैसा कि हम पहले कह आये हैं। इस प्रकार शक्ति को छोड़कर ब्रह्म की कल्पना नहीं की जा सकती; ब्रह्म को छोड़कर शक्ति की भी कल्पना नहीं की जा सकती। दोनों इस प्रकार अंगांगीरूप से सम्बद्ध हैं, ऐसे अभेद सम्बन्ध से जुड़े हैं कि एक को छोड़कर दूसरे की कल्पना तक नहीं की जा सकती। अतः इस दृष्टि से ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं।

फिर भी कई बार हम लोग इस दृष्टिकोण में मानो थोड़ा दार्शनिक सामंजस्य रखे बिना ही कह देते हैं कि यह जो परिवर्तन है, वह मिथ्या है और जो अपरिवर्तनीय है, केवल वही सत्य है; क्योंकि हम अपने जागतिक अनुभवों से जानते हैं कि जो कुछ परिवर्तनशील है, वह अनित्य है। लेकिन यह परिवर्तन, यह लीला यदि प्रवाहाकार में नित्य हो, तब हमें भला क्या आपत्ति हो सकती है? हम ऐसा भी नहीं कह सकते कि वह असम्भव है। असल बात यह है कि जिस सीमित दायरे में हमने जानकारी इकट्ठी की है, उसी पर हमारी युक्ति आधारित है, उससे अधिक की कल्पना हम नहीं कर पाते। इसी कारण शास्त्र कहते हैं, 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' – जो विषय विचार से अतीत हैं, उनका निर्णय तुम तर्क के आधार पर करने मत जाओ, क्योंकि ऐसा करने से तुम्हें भ्रमित होना होगा। तर्क जहाँ पर नहीं पहुँच सकता, वहाँ हम यदि तर्क का प्रयोग करें, तो वह तर्क का दुरुपयोग है। हम तर्क का बेमौके

प्रयोग करते हैं, अतः तर्क वहाँ बाधित होता है। इसीलिए शास्त्र कहते हैं कि जो अचिन्त्य है, उसे तर्क के द्वारा संयुक्त करने की चेष्टा न करो। ब्रह्म और शक्ति दोनों ही अचिन्त्य हैं, क्योंकि जगत् का जो सूक्ष्मतम तत्त्व है, उसे ही यदि शक्ति कहें तो उस शक्ति के स्वरूप की कल्पना हम नहीं कर सकते। फिर देश-काल-निमित्त से अतीत जो सत्ता है, उसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते। फलस्वरूप यदि तर्क के द्वारा उस तत्त्व को समझने की चेष्टा करेंगे, तो वह सम्भव नहीं होगा। अतएव युक्ति की सहायता से शक्ति को मिथ्या प्रमाणित करने का प्रयास एक व्यर्थ का प्रयास मात्र है।

शक्ति सत्य है या मिथ्या ? – यह प्रश्न एक कूट दार्शनिक प्रश्न मात्र है। तर्क के द्वारा इसकी मीमांसा नहीं हो सकती। अनुभव के आधार पर ही इसकी मीमांसा हो सकती है। ठाकुर अनुभव की दृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित होकर कहते हैं – शक्ति और ब्रह्म दोनों सत्य हैं। कहते हैं – असल में दो वस्तुएँ हैं ही नहीं। जिसे शक्ति कहते हैं, उसी को ब्रह्म कहते हैं। हम दो अवस्थाओं को देखकर केवल समझने की सुविधा के लिए दो नाम देते हैं। वास्तव में ये दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। जो ब्रह्म है, वही शक्ति है; जो शक्ति है, वही ब्रह्म है। इन दोनों में रंचमात्र पार्थक्य नहीं है। इस दो से द्वैत की सृष्टि नहीं होती। दो दृष्टिकोणों से देखने पर हमारी बुद्धि में जैसा प्रतिभासित होता है, उसके अनुसार हम कहते हैं ब्रह्म अथवा शक्ति। जब वह सृष्टि-स्थिति-लय करता है, तब कहते हैं शक्ति। और जब सृष्टि-स्थिति-लय नहीं करता, तब उसे कहते हैं ब्रह्म। ठाकुर इस बात को इतना सरल बनाकर इसलिए कह रहे हैं, जिससे वह हमें अनायास ही बोधगम्य हो जाए। उनके इस तरह न कहने से ढेरों शास्त्र पढ़कर भी इस साधारण बात की धारणा करना हम जैसे लोगों की बुद्धि के लिए सम्भव नहीं होता।

### कालीतत्त्व

यही बात ठाकुर फिर कह रहे हैं –." आद्याशक्ति लीलामयी है; सृष्टि-स्थिति-प्रलय करती है। उसी का नाम है काली। काली ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही काली है। दोनों एक ही वस्तु हैं । जब वह निष्क्रिय है – सृष्टि-स्थिति-प्रलय कुछ नहीं करता, इस बात का जब हम विचार करते हैं

('इस बात का जब हम विचार करते हैं' ये शब्द विचारणीय हैं, इसकी व्याख्या हम पूर्व में ही कर चुके हैं), तब उसे ब्रह्म कहकर पुकारते हैं। जब वह यह सब कार्य करता है (अर्थात् करता है ऐसा हम सोचते हैं), तब उसे काली कहते हैं, शक्ति कहते हैं। व्यक्ति एक ही है – नाम-रूप का भेद है। जैसे 'जल', 'वाटर', 'पानी'।

जैसा जैसा हम अनुभव करते हैं, वैसा वैसा ही एक-एक नाम देते जाते हैं। जैसी हमारी बुद्धि की दौड़ होती है या दृष्टिकोण रहता है, तदनुसार हम या तो 'काली' कहते हैं, या 'आद्याशक्ति', या 'ब्रह्म'। इससे तत्त्व में भेद नहीं हो जाता। इस बात को यहाँ पर 'जल', 'वाटर', 'पानी' का दृष्टान्त देकर समझाते हैं। जल को यदि वाटर कहा जाए, तो वस्तु भिन्न नहीं हो जाती। केवल हमारी भाषा में पार्थक्य होता है। कोई जल कहते हैं, कोई वाटर, कोई पानी। क्यों कहते हैं ? हमने जैसा सीखा है, हमारे जैसे संस्कार हैं, हमारा जैसा अभ्यास है, उसी के अनुसार हम शब्दप्रयोग करते हैं। जब हम अपने संस्कार के अनुरूप देखते हैं कि वह जगत् की सृष्टि-स्थिति-प्रलय कर रहा है, तब उस दृष्टिकोण से हम उसे 'शक्ति' कहते हैं। और जिस अवस्था में हम निष्क्रिय सत्ता में प्रतिष्ठित होते हैं, तब उसे लक्ष्य करके कहते हैं 'ब्रह्म'। केवल शब्दों का भेद है, तत्त्व में कोई भेद नहीं। ठाकुर यहाँ इस बात पर बहुत जोर देकर कह रहे हैं।

इसके पश्चात् की बात कही जा रही है। केशव कह रहे हैं, "काली कितने प्रकार से लीला कर रही है, यह जरा एक बार कहिए न।"

केशव ने ये सब बातें ठाकुर से सुनी हैं। उन्हीं की पुनरावृत्ति कराना चाहते हैं, जिससे वे फिर से सुनकर उन बातों का और भी आस्वादन करें तथा अन्य भक्तों को भी सुनाएँ – यही उनका उद्देश्य है। हमें पहले से ही ध्यान में रखना होगा कि 'काली' कहने से ठाकुर का अभिप्राय क्या है। इस प्रसंग में रामप्रसाद का भी कथन है – 'काली ब्रह्म जेने मर्म धर्माधर्म सब छेड़ेछि' – 'काली और ब्रह्म ये दो भिन्न नहीं हैं, यह मैं जान गया हूँ; यह जानकर धर्म-अधर्म अर्थात् सब प्रकार की उपाधि का परित्याग कर मैं निर्विशेष तत्त्व में प्रतिष्ठित हो गया हूँ।' वे एक दूसरे स्थान पर कहते हैं – 'मातृभावे आमि

तत्त्व कोरि जाँरे। सेटा चातरे कि भाँगबो हाँड़ि; बोझ ना रे मन ठारे ठारे' (मैं मातृभाव से जिसकी आराधना करता हूँ, उसके तत्त्व का भण्डा क्या मुझे चौराहे पर फोड़ना होगा ? मन, इशारे से ही समझ ले)। अभिप्राय यह है कि 'माँ' कहें, 'काली' कहें, 'शक्ति' कहें या विभिन्न देवीदेवता के रूप में उस तत्त्व का वर्णन करें, वास्तव में वह वही एक ब्रह्म है — इस बात को क्या और अधिक खोलकर कहना पड़ेगा!

### समाधि में शक्ति के राज्य से बाहर

इस प्रकार हमने देखा कि जब तक कोई साधना करता है, तब तक अर्थात् उस चरम तत्त्व तक पहुँचने के पूर्व तक वह शक्ति के राज्य में रहता है। जब वह निर्विकल्प समाधि में स्थित हो जाता है, तभी कहा जा सकता है कि वह शक्ति के राज्य से बाहर चला गया। लेकिन जब वह फिर से साधारण भूमि में लौट आता है, तब भी शक्ति के राज्य में ही रहता है। तभी तो तोतापुरी ब्रह्मज्ञ होकर भी इच्छा मात्र से स्वयं को उस समाधि में प्रतिष्ठित नहीं कर पा रहे हैं, क्योंकि आद्याशक्ति महामाया रास्ता नहीं छोड़ रही है। तोतापुरी यह बात नहीं समझते थे — नहीं समझते थे कि शक्ति की कृपा से ही उन्हें निर्विकल्प समाधि हुई है। वे यह बात जानते नहीं थे। लेकिन जब उन्होंने देखा कि उनका ब्रह्मावगाही मन बार बार प्रयत्न करके भी त्रिगुण के राज्य को छोड़कर तुरीयसत्ता में प्रतिष्ठित नहीं हो पा रहा है, तब वे विस्मित होकर विचार करने लगे — यह क्या हो रहा है! मेरे मन ने तो कभी मेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया, फिर आज ऐसा क्यों हो रहा है ? जो हो, उन्होंने सोचा कि शरीर ही इसका कारण है, इसलिए उसका विसर्जन कर देना चाहिए। तब वे यह भी नहीं समझते थे कि शरीर छोड़ना या रखना — इसमें भी वे स्वतन्त्र नहीं हैं, यहाँ भी महामाया का शासन है, शक्ति का राज्य है। वे शरीरत्याग करने के लिए जाते हैं। वर्णन आता है कि रुग्ण देह को विसर्जित कर देने के लिए वे गम्भीर रात्रि में गंगा में जाते हैं। धीरे धीरे वे गंगा में उतरते हैं और क्रमशः गहरे जल में प्रवेश करते हैं। लेकिन डूबने लायक जल कहीं नहीं पाते। चलते चलते लगभग दूसरे किनारे पर चले गये, तब भी उन्हें डूबने लायक जल नहीं मिला। तब वे अवाक् होकर सोचने लगे, "यह कैसी दैवी माया है! डूब मरने

लायक जल भी आज गंगा में नहीं है! यह कैसी अपूर्व लीला है!" ज्योंही यह बात मन में उठी — और यही अन्तिम सोपान है — त्योंही उन्हें जगन्माता की सत्ता की अनुभूति हुई। वे जल में, थल में, देह में, मन में — सर्वत्र उस आद्याशक्ति की लीला का अनुभव करने लगे। वे समझ गये कि जब तक मनुष्य शरीर के भीतर है, तब तक आद्याशक्ति की इच्छा के बिना उसके प्रभाव से मुक्त होने की सामर्थ्य किसी में नहीं है — मरने की भी सामर्थ्य नहीं है। और तब उन्हें उस आद्याशक्ति की अधीनता स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा, वे उस आद्याशक्ति को जगन्माता के रूप में ग्रहण करने को विवश हुए। श्रीरामकृष्ण के गुरु के रूप में उनके आने की जो सार्थकता थी, वह यहीं पर उन्हें परिपूर्ण रूप से प्राप्त हुई। हमने पहले ही कहा है कि जो भी श्रीरामकृष्ण के गुरु के रूप में आये, वे सभी उनके पास आकर किसी न किसी प्रकार अपनी अपूर्णता को दूर कर पूर्णता का लाभ करने में समर्थ हुए थे। हमने यहाँ पर तोतापुरी के पूर्णतालाभ का प्रसंग देखा।

ज्ञानिनाम् अपि चेतांसि देवी भगवती हि सा
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।
(दुर्गासप्तशती [illegible])

अर्थात् देवी भगवती महामाया ज्ञानियों के चित्त को भी बलपूर्वक खींचकर मोह से ढक लेती है। ज्ञानिनाम् अपि चेतांसि — कोई भी नहीं छूटता। शरीरधारी मात्र को, चाहे वह कितना भी बड़ा ज्ञानी क्यों न हो, महामाया अपनी इच्छानुसार अपने हाथ की पुतली बनाकर नचा सकती है। मैं उन्नत साधक हूँ ऐसा गर्व करने के लिए, अभिमान करते हुए सिर ऊँचा करने के लिए कोई स्थान नहीं है।

# ९. केशवचन्द्र सेन के साथ–३

(वचनामृत १।१३।(४-५) २७ अक्टूबर, १८८२)

## सृष्टितत्त्व, ईश्वर और जगत्-संसार

गंगा के वक्षःस्थल पर जहाज में केशव और अन्यान्य ब्राह्मभक्तों के साथ ठाकुर का अविराम ईश्वरप्रसंग चल रहा है। केशव ठाकुर से जानना चाहते हैं कि माँ-काली कितने प्रकार से लीला करती हैं। यहाँ स्मरण रखना होगा कि केशव सेन ब्राह्मसमाज के नेता हैं। इसलिए उनका अनुराग निराकार के ऊपर है तथा मूर्तिपूजा के प्रति उनका हेयभाव रहना स्वाभाविक है। लेकिन ठाकुर के संस्पर्श में आकर उनका वह एकांगी भाव धीरे धीरे दूर होता जा रहा है। वे जानना चाहते हैं कि माँ-काली नाना भावों में किस प्रकार लीला करती हैं। ठाकुर उनके प्रश्न के उत्तर में महाकाली और नित्यकाली का उल्लेख करते हैं — तन्त्र में माँ को निराकार कहा है। सृष्टि तब भी नहीं हुई थी। उन्होंने सृष्टि के पहले पूर्वसृष्टि का बीज संग्रह कर रखा था। कहना न होगा कि ठाकुर यहाँ पर तन्त्र एवं वेदान्त की अथवा वेदविहित अन्य जो साधनप्रणालियाँ हैं, उनके एक गूढ़ रहस्य की बात कह रहे हैं। वह रहस्य यह है : सभी जानते हैं कि सृष्टि नित्य नहीं है। अब जो नित्य नहीं है, उसका एक दिन नाश होगा ही, एवं नाश होने के उपरान्त पुनः सृष्टि कहाँ से होगी? यदि यह कहा जाए कि ब्रह्म के भीतर से ही सृष्टि होगी अर्थात् वह कार्य और कारण दोनों है, तब प्रश्न उठेगा कि तब तो उसके भीतर वैचित्र्य को, अनेकता को स्वीकार कर लेना हुआ! अब इस वैचित्र्य को यदि स्वीकार करते हैं, तो अद्वैतहानि होती है, और यदि अस्वीकार करते हैं, तो सृष्टि असम्भव हो जाती है। इसीलिए तन्त्र में, तथा वेदान्त में भी, यह कहा जाता है कि जब समस्त जगत् लय को प्राप्त होता है, तब ईश्वर सृष्टि के बीजों को अपने भीतर संग्रह करके रखता है और चूँकि ये बीज उसके स्वरूप से भिन्न नहीं हैं, इसलिए वहाँ द्वैतापत्ति नहीं

होती। हम जब अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से जगत्-रचना की बात सुनते हैं, तब रचना का क्रम इस प्रकार देखते हैं — सब से पहले हिरण्यगर्भ के रूप में ब्रह्म का आविर्भाव होता है। हिरण्यगर्भ मानो जगत्स्रष्टा है — जगत् की सृष्टि करने के उद्देश्य से ब्रह्म मानो एक व्यक्ति के रूप में आविर्भूत होता है। उसके पश्चात् उसके ही भीतर से प्रथम सृष्टि आरम्भ होती है। पहले उसके भीतर से वेद का आविर्भाव होता है। वेद माने समस्त ज्ञान का सूक्ष्म रूप, जो उसके भीतर पहले भावरूप में आविर्भूत होता है। इसके पश्चात् वह उसे स्थूल रूप देता है; तथा इस स्थूल रूप का भी क्रम है। कहा गया है —

तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः।
आकाशाद् वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी।

— अर्थात् उस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी और उसके पश्चात् पंचभूतात्मक विभिन्न प्रकृति। उसके भीतर अव्यक्त रूप से जो सृष्टि थी, उसे ही मानो सृष्टि का बीज संग्रह कर रखना कह रहे हैं। आद्याशक्ति इस सृष्टि को ईश्वर के भीतर से बाहर लाती है, और पुनः उसी में रख भी देती है। मकड़ी के जाल रचने से इसकी उपमा देते हैं। उपनिषद् में कहा गया है — 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' — जैसे मकड़ी अपने भीतर से ही जाले का विस्तार करती है तथा पुनः उस जाले को अपने भीतर समेट लेती है, उसी प्रकार ईश्वर भी अपने भीतर से इस जगत् को प्रकाशित करता है और पुनः अपने भीतर ही उसे समेट लेता है।

जिसके भीतर से इस जगत् की सृष्टि होती है, जिसमें यह जगत् अवस्थित रहता है तथा अन्त में इस जगत् का जिसमें लय होता है, उसी को हम 'ब्रह्म' कहते हैं, 'ईश्वर' कहते हैं। लेकिन ईश्वर की यह सृष्टि कुम्हार की कुम्भसृष्टि के समान नहीं है। कुम्हार जब घड़ा तैयार करता है, तब वह उसे अपने भीतर से तैयार नहीं करता, वह बाहर के किसी उपादान से उसे बनाता है। कुम्हार यदि न भी रहे तो इससे घड़े की न तो कोई क्षति होगी, न वृद्धि। पर जगत् की सृष्टि इस प्रकार नहीं है — इस बात को समझाने के लिए ही उपनिषद् कहता है कि जिससे इस जगत् की उत्पत्ति होती है, जिसमें यह जगत् स्थित है तथा जिसमें इस जगत् का लय होगा, वही ईश्वर है, ब्रह्म है।

अतः यह सृष्टि, स्थिति और लय जिस प्रकार उससे होते हैं, उससे वह जगत् का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी। घड़े का उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण है कुम्भकार (कुम्हार)। इसलिए मिट्टी का यह रूपान्तर होता है। लेकिन यहाँ तो एक ईश्वर को छोड़ दूसरा कुछ नहीं है। उसको छोड़ ऐसा कोई उपादान नहीं है, जिसे वह रूपान्तरित करेगा। ऐसा कोई साधन नहीं है, जिसकी सहायता से रूपान्तरित करेगा। ऐसी कोई सत्ता नहीं है, जो उसके द्वारा रचे गये इस जगत् के लिए उपादान का काम करेगी। इसीलिए कह रहे हैं— उसी ने इस जगत् को रचा है, फिर इस जगत् में वह अवस्थान करता है तथा पुनः उसी में इस जगत् का लय हो जाएगा। उपनिषद् में कहा गया है— 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' अर्थात् जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा यह जगत् सत्तावान प्रतीत होता है तथा अन्त में जिसमें इस जगत् का लय होता है, वही है वह परम तत्त्व। उसी का सन्धान करो। परमतत्त्व की यहाँ पर जिस प्रकार व्याख्या की गयी है, उसमें वह उपादान और निमित्त दोनों ही कारण है। इसलिए उसकी जगत्सृष्टि अन्य किसी भी साधारण सृष्टि के साथ तुलनीय नहीं हो सकती। केवल ऊर्णनाभि (मकड़ी) अथवा विस्फुलिंग के साथ उसकी आंशिक रूप से तुलना की जा सकती है— यथा अग्नेर्विस्फुलिंगाः प्रवर्तन्ते सहस्रशः अर्थात् जैसे अग्नि से हजारों अग्निस्फुलिंग निकलते हैं, बहुत कुछ इसी प्रकार। जो अग्नि का तत्त्व है, वही स्फुलिंग का भी तत्त्व है, फिर भी वह अग्नि से भिन्न रूप में प्रतीत होता है। लेकिन इन दृष्टान्तों के साथ जीवसृष्टि के दृष्टान्त का कहीं भी पूरा-पूरा मेल नहीं बैठता, सादृश्य केवल अंशतः है।

**ईश्वर की इति नहीं है**

इस दृष्टान्त के द्वारा मनुष्य को ब्रह्म की जगत्सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ धारणा हो सकती है। ठाकुर कह रहे हैं, माँ ने इस जगत् की सृष्टि इस प्रकार की है। जगत् की सृष्टि के पूर्व माँ के स्वरूप के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि वह निराकार है। भक्त गाता है— 'ब्रह्माण्ड जब नहीं था, माँ, तब तूने यह मुण्डमाला कहाँ पायी?' वराभयकरा मुण्डमाला धारण किये हुए है, उस मूर्ति

को लक्ष्य करके कहते हैं — जब ब्रह्माण्ड नहीं था, तब उसकी यह मुण्डमाला कहाँ थी? यह सब हमारी दृष्टि से मानो असम्भव है, लेकिन जो नित्य है, हमारे मन-बुद्धि से अगोचर है, उसके लिए सब सम्भव है। भक्तों ने, साधकों ने उसे इसी प्रकार देखा है। गीत में है — 'माँ कि आमार काली रे। कालोरूपे दिगम्बरी, हृत्पद्म करे आलो रे।' (क्या मेरी माँ काली है? काले रूप वाली वह दिगम्बरी हृदयपद्म को उजियाला करती है) माँ काली है या नहीं, यह जानने के लिए उसके पास जाकर ही देखना होगा। इसे छोड़कर कोई उपाय नहीं है। हम जब देखते हैं, तब जैसा हमारा दृष्टिकोण है, वैसा ही उसका रंग, उसका रूप दिखाई देता है। लेकिन मनुष्य जब उसमें लीन हो जाता है, तब उसकी धारणा इन साधारण प्रवर्तक आदि उपासकों की धारणा के साथ मेल नहीं खाती। गिरगिट को लोग अनेक रंगों में देखते हैं, लेकिन जो वृक्ष के नीचे रहता है, वही ठीक से कह सकता है कि गिरगिट का स्वरूप क्या है। वह कहता है कि हम इसे जितने रंगों में देखते हैं, वे सभी रंग उसके हैं। भक्त कहता है — 'चिदाकाशे जार जा भासे, ताइ तार बोधेर सीमाना' (जिसके चिदाकाश में जैसा भासित होता है, वही उसके बोध की सीमा है)। जिसके मन में जो अनुभव हो रहा है, उसकी बुद्धि मात्र उसके अनुभव के द्वारा सीमित हो जाती है। इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं कि ईश्वर के सम्बन्ध में हममें से जो जैसी धारणा रखता है, बस वही उसकी सीमा है, ऐसा हम कभी न सोचें। हम इस बात को हरदम याद रखें कि जो हम अनुभव कर रहे हैं, वह उसका रूप है सही, पर इस रूप को छोड़कर उसके और कोई रूप नहीं है यह बात हम कभी न सोचें, हम कभी उसकी 'इति' न करें।

## बन्धन और मुक्ति

इसके बाद ठाकुर बन्धन और मुक्ति के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे हैं। वे कह रहे हैं — बन्धन और मुक्ति इन दोनों के कर्ता वे (ईश्वर) ही हैं। अब इस बात पर विचार करने से हमारे मन में प्रश्न उठता है कि उन्होंने फिर दोष की सृष्टि क्यों की। बन्धन की सृष्टि वे नहीं भी तो कर सकते थे। इसके उत्तर में ठाकुर कहते हैं — ऐसा होने से ढाई का खेल नहीं चलता। उसका खेल चलता रहे इसके लिए अच्छे के साथ बुरे को भी रखना पड़ेगा। कहते हैं — सभी यदि

ढाई को छूकर बैठ जाएँ, तो खेल चले कैसे ? पर हाँ, यदि कोई खेलते खेलते थक जाए, तो ढाई स्वयं अपना हाथ उसकी ओर बढ़ा देती है। यहाँ प्रश्न होता है कि वे तो खेल रहे हैं,पर हमारी तो जान निकली जा रही है। शायद आपको स्मरण हो, ईसप की कहानियों में मेंढकों ने लड़कों से कहा था – तुम्हारे लिए तो यह खेल है, पर हम तो मरे जा रहे हैं। इसके उत्तर में ठाकुर 'वचनामृत' में अनेक स्थानों में कह चुके हैं कि तुम लोग जो 'हम लोग मरे जा रहे हैं' कहते हो, वह 'हम लोग' कौन है ? ईश्वर को छोड़कर क्या और कोई है ? यदि वे स्वयं कभी अपनी आँखों में पट्टी बाँधकर, तो कभी आँखों को खोलकर चक्कर लगाते रहें, तो इससे भला दूसरे पर क्या अत्याचार करना हुआ ? ठाकुर कह रहे हैं – 'हे राम, तुमने अपनी दुर्दशा स्वयं की है।' जहाँ वे बन्धन में रहते हैं, वहाँ वे स्वयं कष्ट भोग रहे हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि इस प्रकार अपने लिए कष्ट को स्वयं बुला लाना तो मूर्ख भी नहीं करता। इसका उत्तर यह है कि मूर्ख की भी बुद्धि क्या उन्हीं की नहीं है। वे उस बुद्धि का प्रयोग नहीं करते। उनकी जो बुद्धि है, वह हमारी बुद्धि के लिए अगोचर है। न समझ सकने के कारण कहते हैं – यह उनकी लीला है, तथा इस लीला के साथ छोटे छोटे लड़के–लड़कियों के खेल की तुलना करते हुए कहते हैं – 'लोकवत् तु लीलाकैवल्यम्'। जैसे छोटे छोटे लड़के–लड़कियाँ खेलने के लिए घर बनाते हैं, बिगाड़ते हैं और पुनः बनाते हैं, ठीक इसी प्रकार वे जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय करते हैं। असल बात यह है कि उन्हें छोड़कर और दूसरा कोई नहीं है। 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा' – इस जगत् में मैं अकेला हूँ; मुझे छोड़ और दूसरा कौन है ? अतः उन्हें छोड़कर जब और कोई नहीं है, तब किसी को तो वे बद्ध कर रहे हैं और किसी को मुक्त – ऐसा तो नहीं होता।

**मुक्ति का उपाय**

अब बन्धन यदि हमें पसन्द न हो, तो उसका भी उपाय है। यदि हम हृदय से कातर होकर प्रार्थना करें, तो वे हमें इस बन्धन से मुक्त कर देते हैं। किन्तु उन्होंने ऐसी विविधता की रचना क्यों की है, इस प्रश्न के लिए कोई गुँजाइश नहीं है। क्यों की है, यह तो हम नहीं जानते। हम तो इतना ही सोच

सकते हैं कि इस सृष्टि में तुम्हारा खेल जैसा भी हो, माँ, तुम हमें रिहाई दो। ऐसा होने से हो सकता है, वे मुक्ति देने में संकोच न करें; लेकिन उनसे यह प्रश्न करना नहीं बनता कि क्यों उन्होंने ऐसी सृष्टि रची है। यह उनकी मौज है। इसीलिए उनको कहा गया है – 'इच्छामयी', 'मौजी'। उनकी जैसी इच्छा होगी, वे वैसा ही करेंगी, हमारे सिद्धान्तों के लिए नहीं रुकेंगी। हमें यदि यह बन्धन असह्य हो रहा हो, तो उससे मुक्ति का उपाय खोजना होगा। उस उपाय के सम्बन्ध में भी उन्होंने ही व्यवस्था कर रखी है। किन्तु क्या हम उस उपाय को लेना चाहते हैं ? यहाँ पर कहा है कि इस संसार की सृष्टि करने के पश्चात् वे कह रही हैं, "जाओ बेटे, अब जाकर खेलो।" अब हमें खेल पसन्द है, तो हर्ज क्या है ? फिर खेलो। जब खिलौना और अच्छा नहीं लगता, तब बालक कहता है, 'माँ के पास जाऊँगा।' तब और कोई खिलौना उसे पकड़कर नहीं रख सकता। यहाँ प्रश्न यह है कि क्या यह खेल और ये सब खिलौने हमारे लिए असह्य हो गये हैं ? यदि हो गये हैं, तो उसकी व्यवस्था है, और वह व्यवस्था उन्होंने ही कर रखी है। कह रहे हैं – 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्' – भगवान् ने समस्त इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर रचा है, इसलिए ये इन्द्रियाँ केवल बाहर की वस्तुओं को ही देखती और अनुभव करती हैं, अन्तरात्मा को नहीं देखतीं, उस ओर उनकी नजर नहीं है। लेकिन इन लोगों में कोई विरला ही व्यक्ति 'आवृत्तचक्षु' होता है, जो बाहर की ओर से आँखें फेरकर अन्तरात्मा को देखता है। अतः दोनों ही हैं। माँ ने एक ओर जैसे मन से कह दिया है कि 'जा, तू विषयों का भोग कर', वैसे ही दूसरी ओर वे उसके लिए भी हाथ बढ़ा देती हैं जो माँ के लिए व्याकुल हो जाता है। प्रश्न यह है कि क्या वैसी व्याकुलता हममें है ? हम क्या फिर से उनकी गोद में लौट जाना चाहते हैं ? अनेक बार हम सोचते हैं कि हम यह चाहेंगे कैसे ? उन्होंने क्या हमें उस अमृत का स्वाद दिया है ? उस स्वाद से वंचित कर रखा है इसीलिए तो हम विषय के प्रति आकर्षण का अनुभव करते हैं। यह बात मानो एक ही वस्तु को घुमा-फिराकर कहना है। विषय के प्रति इतना आकर्षण है तभी तो उनके प्रेम का स्वाद हम नहीं पाते। हम सोचते हैं कि हमारे लिए करने का कुछ नहीं है, जो करना हो वह वे ही करें। 'देवीसूक्त'

में है – 'यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तं ऋषिं तं सुमेधाम्' – मैं जिसे चाहती हूँ उसे बड़ा करती हूँ, फिर जिसे चाहती हूँ अधोगामी बना देती हूँ। शास्त्र कहते हैं – 'तमेव साधु कर्म कारयति यम् ऊर्ध्वं निनीषति' – जिसे वे (ईश्वर) ऊँचा उठाएँगे, उससे शुभ कर्म कराते हैं; और 'तमेव असाधु कर्म कारयति यम् अधो निनीषति' – जिसे अधोगामी बनाएँगे, उससे अशुभ कर्म कराते हैं। अब यदि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म वे ही कराते हैं, तो उसमें हमारा क्या दोष ? कोई दोष नहीं है, केवल एक बात को छोड़कर, और वह यह कि हम यह न सोचें कि मैं कर रहा हूँ।

**बन्धन का कारण कर्तृत्वबोध**

ईश्वर को हटाकर यह जो स्वयं का कर्तृत्वबोध है, यही विपत्ति का मूल है। यदि हम इस बात को सदा स्मरण रख सकते कि सब कुछ वे ही कर रहे हैं, तब तो और कोई चिन्ता ही नहीं थी, तब तो हम जीवन्मुक्त हो जाते। लेकिन जो अच्छा है उसमें तो हम अपना कर्तृत्व देखते हैं और जो बुरा है उसके लिए यदि कहें कि 'वे करा रहे हैं' तब तो यह मन के साथ छल करना है। यह मानो उस ब्राह्मण के द्वारा की गयी गोहत्या के समान है। इस कहानी को यद्यपि आप अनेक बार सुन चुके होंगे, फिर भी एक बार दुहराता हूँ। एक ब्राह्मण ने बहुत सुन्दर बाग लगाया। उस बाग में एक दिन एक गाय घुसकर सुन्दर-सुन्दर फूलों के पौधों को चर गयी। यह देखकर क्रोध से ब्राह्मण आग-बबूला हो गया और उसने गाय को इतना मारा कि वह मर गयी। तब गोहत्या का पाप ब्राह्मण के ऊपर चढ़ने आया। यह देखकर उसने कहा, "ठहरो, यह पाप मैंने नहीं किया है। हाथ के देवता इन्द्र हैं। अतएव गोहत्या इन्द्र ने ही की है, हाथ तो एक यन्त्रमात्र है।" तब गोहत्या का पाप इन्द्र के पास गया। इन्द्र ने सब सुनकर उस पाप को कुछ देर रुकने के लिए कहा और वे स्वयं एक बूढ़े ब्राह्मण के वेश में उस बगीचे में गये। बगीचे में जाकर वे बागवान की बड़ी प्रशंसा करने लगे। यह सुनकर ब्राह्मण बड़ा खुश हो गया। वह छद्मवेशी इन्द्र को घुमा-घुमाकर सब दिखाने लगा और बताने लगा कि कैसे उसने स्वयं यह सारा बाग लगाया है। वह उसका सारा श्रेय स्वयं लेने लगा। घूमते-घूमते वे दोनों अकस्मात् मरी हुई गाय के पास जा पहुँचे। चौंककर छद्मवेशी इन्द्र ने पूछा,

"अरे, यह गोहत्या किसने की है ?" तब ब्राह्मण निरुत्तर हो गया। अब तक तो वह 'मैंने किया है, मैंने किया है' कह रहा था, अतः अब कैसे कहे कि यह इन्द्र ने किया है ? इसीलिए वह चुप रह गया। तब इन्द्र ने अपना रूप धारण कर लिया और कहा, "वाह रे पाखण्डी ! जितना अच्छा काम है, वह सब करनेवाला तू और गोहत्या करनेवाला इन्द्र ?"

हमारी अवस्था भी ठीक इसी प्रकार है। हम यदि पूरी तरह कर्तृत्वहीन होवें, तो शुभ और अशुभ किसी भी प्रकार के कर्म के फल के लिए हम उत्तरदायी नहीं होंगे। लेकिन जब अपने में हमें कर्तापन का, भोक्तापन का बोध होता है, तब अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के फल भी हमें भोगने पड़ते हैं। अतः या तो यह सारा दायित्व हम पूरी तरह से अपने ऊपर लें, या फिर सब कुछ उनके हाथ में छोड़ दें। बीच का कोई रास्ता नहीं है। सब जगह तो हम कर्ता बने रहें, और जहाँ असुविधा होती है वहाँ यह कहें कि भगवान् करते हैं — यह नहीं हो सकता। हम कई बार सुनते हैं कि 'थोड़ा भगवान् का नाम लेना चाहिए, पर वह भी यदि वे कराएँगे तो होगा।' पर खाने के समय तो कोई नहीं कहता कि वे खिलाएँगे तो खाएँगे। तब तो हमारी चेष्टा बनी रहती है। खाने के समय तो हम प्राणपण से चेष्टा करते हैं और भगवान् का स्मरण करने के समय कहते हैं कि 'वे कराएँगे तो होगा'। यही हमारा आलस्य है, अपने मन के साथ छल है। यह छल न करें यदि हम सम्पूर्ण रूप से उन पर निर्भर हो सकें, तो हमारा विश्वास कभी धोखा नहीं खाएगा। वे ही सब प्रकार के अमंगल से हमारी रक्षा करेंगे। किन्तु इसके पहले नहीं। और यदि खेल हमें उतना अरुचिकर न हो, तो खेल चलता रहे। वे देखेंगे। और देखेंगे ही नहीं बल्कि दो-एक पतंग कट जाए तो वे आनन्द से ताली बजा उठेंगे। यह कभी नहीं कहेंगे कि "अरे, यहाँ तो मेरा खेल नहीं बन्द हो जाय।"

**संसार और ईश्वर**

इसीलिए कह रहे हैं — वे लीलामयी हैं, यह संसार उनकी लीला है। वे इच्छामयी हैं। वे आनन्दमयी लाखों में से किसी एक को मुक्ति देती हैं। प्रश्न होता है कि वे तो सभी को मुक्ति दे सकती हैं, फिर क्यों नहीं देतीं ? इसके उत्तर में ठाकुर कहते हैं कि यह उनकी इच्छा है कि खेल चलता रहे। फिर जब

खेल बन्द होगा, तब वह भी तो उन्हीं के करने से होगा। 'प्रसाद बोले मन दियेछो मनेरे आँखि ठारि' — रामप्रसाद कहता है कि तुमने मन तो दिया है, पर मन को इशारा कर दिया है। मन को वे इशारा करके संसार करने के लिए कह दिया हैं। मन वही कर रहा है। उनकी माया में भूलकर मनुष्य संसार को लेकर पड़ा हुआ है।

इसके बाद आता है एक मार्मिक प्रश्न — "महाराज, सब कुछ त्यागे बिना क्या ईश्वर को नहीं पाया जा सकता?" सर्वत्यागी ठाकुर को देखकर मनुष्य के मन में यह प्रश्न विशेष रूप से उठता है। सर्वत्यागी के सान्निध्य में आने पर मनुष्य का स्वयं का दैन्य प्रकट हो उठता है। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि सब कुछ न त्यागने से क्या वे हमारी पकड़ से बाहर ही रहेंगे? मन में विचार उठता है कि यह सर्वत्याग हमारे लिए सम्भव नहीं होगा, अतः उनको पाना भी हमारे लिए सम्भव न हो सकेगा। ठाकुर हँसते हुए कहते हैं — हँसते हुए इसलिए कि वे हमारी दौड़ जानते हैं — "नहीं जी, तुम्हें भला सब त्याग क्यों करना होगा? तुम रस में डूबे हुए ठीक ही हो। दानेदार भी और सिरका भी।" गुड़ की भेलियाँ होती हैं, किसी किसी भेली में कुछ दानेदार गुड़ भी होता है, फिर कुछ सिरका गुड़ भी। उसी प्रकार तुम्हारा हाल है। फिर नक्शे के खेल की बात कहते हैं। इस खेल में जो लोग अधिक कटाते हैं, उनकी गोटी से और खेलना नहीं चलता। इसीलिए ठाकुर कहते हैं, "मैं अधिक कटाकर जल गया हूँ।" फिर कहते हैं, "सच कहता हूँ, तुम लोग संसार करते हो इसमें दोष नहीं है।" यद्यपि ठाकुर के समान सर्वत्यागी को देखकर मन में आता है कि ऐसा होने से अच्छा होता, लेकिन मन नहीं समझता कि वैसी अवस्था सब के लिए नहीं है। यह ठाकुर समझते हैं। इसलिए कहते हैं, "तुम लोग संसार करते हो इसमें दोष नहीं है।" पर ईश्वर में मन रखना होगा, इस सम्बन्ध में ठाकुर कोई समझौता नहीं करते। मैं तो संसार में अपनी इच्छानुसार चलूँगा और यह ईश्वर का दायित्व है कि वे मुझे यहाँ से उठाकर अपने पादपद्मों में ले जाएँगे — यह नहीं हो सकता। इसीलिए कह रहे हैं, "पर हाँ, ईश्वर की ओर मन देना होगा, नहीं तो नहीं होगा।" अतएव संसार करने में दोष नहीं है, दोष है संसार के प्रति आसक्ति रखने में, भगवान् को भूलकर संसार में डूबे रहने में।

□ □ □

# १०. केशवचन्द्र सेन के साथ – ४

(वचनामृत, १।१।३।६ : २७ अक्टूबर १८८२)

## नाम में विश्वास

केशव तथा अन्यान्य ब्राह्म भक्तों के साथ ठाकुर का अविराम ईश्वरप्रसंग चल रहा है।" ठाकुर कहते हैं, "मन से ही बद्ध है, मन से ही मुक्त !" यदि मनुष्य मन ही मन दृढ़ संकल्प करके कह सके कि वह मुक्त है, तो वह सचमुच ही मुक्त हो जाता है। और ऐसा न कर यदि वह लगातार सोचता रहे कि मैं पापी हूँ, मैं बद्ध हूँ, तो वह बद्ध ही हो जाता है। ठाकुर कहते हैं कि ईश्वर के नाम में ऐसा विश्वास होना चाहिए – 'अरे, मैंने उनका नाम लिया है, फिर मेरा पाप क्या !' यह कहकर ठाकुर ने निष्ठावान् ब्राह्मण कृष्णकिशोर की बात बताई। कृष्णकिशोर का ऐसा विश्वास था कि समाज में अपवित्र और अछूत माने जानेवाले मोची से कहा, "तू शिव बोल"; और उसके शिव कहने के साथ ही उन्हें विश्वास हो गया कि वह शुद्ध हो गया है, और उसके हाथ से उन्होंने पानी पी लिया। ठाकुर कह रहे हैं, "उनके नाम में विश्वास करो और कहो कि जो गलत काम मैंने किया है, वह फिर नहीं करूँगा" – ये दोनों बातें एक साथ होनी चाहिए। यदि उनके चरणों में शरणागत होकर श्रद्धा के साथ उनका नाम लिया जाए, तो वे सब पापों से उद्धार कर देते हैं। लेकिन साथ साथ यह भी समझ लेना होगा कि जो उन पर निर्भर रहता है, जो उनका शरणागत है, वह कुमार्ग में फिर नहीं जाता। यदि कोई गलत रास्ते पर चलता दिखाई देता है और कहता है कि मैंने उनका नाम लिया है, मैं शुद्ध हूँ, मुक्त हूँ, तो इससे यह समझना होगा कि उसने ठीक ठीक नाम नहीं लिया और नाम में उसकी श्रद्धा नहीं है, इसीलिए न तो वह शुद्ध है, न मुक्त। उसके आचरण के द्वारा ही उसका स्वरूप प्रकट हो जाएगा।

## भगवदाश्रय

भागवत में कहा है कि जो उनका आश्रय लेता है, उसका कभी

पदस्खलन नहीं होता। ठाकुर इसी को कहते थे — 'पैर बेताल नहीं पड़ते।'

"यमाश्रित्य नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥"

कह रहे हैं कि भगवान् का या उनके प्रति शुद्ध भक्ति का अवलम्बन कर मनुष्य जब शुद्ध और पवित्र हो जाता है, तब उस आश्रय का स्वभाव ही ऐसा है कि वह मनुष्य पुनः प्रमादग्रस्त नहीं होता — 'न प्रमाद्येत कर्हिचित्' — वह कभी भूल नहीं करता। 'धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह' — यदि वह आँख मूँदकर भी दौड़ता है तो भी उसके पैर नहीं फिसलते। ठाकुर कह रहे हैं — जो बालक पिता की गोद में बैठा हुआ है, वह मजे से ताली बजाते हुए जा सकता है। उसके गिरने का कोई भय नहीं रहता। लेकिन जो बालक पिता का हाथ पकड़कर चलता है, वह यदि अचानक कुछ देखकर अन्यमनस्क हो, या ताली बजाने की कोशिश करे तो पिता का हाथ छूट जाने से गिर सकता है। इसलिए यदि दिखे कि किसी भक्त का बार बार पदस्खलन हो रहा है तो यह समझना होगा कि उसकी भक्ति आन्तरिक नहीं है। यदि उसकी भक्ति आन्तरिक होती तो भगवान् स्वयं उसके रक्षक होते और उसके पैर को बेताल नहीं पड़ने देते।

"तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥"

जो अनन्य भाव से भगवान् के शरणागत होते हैं, भगवान् ही उनका उद्धार करते हैं। भगवान् प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं कि वे उन लोगों का मृत्युसंसाररूप सागर से उद्धार कर देते हैं। वे अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करते हैं। पर हाँ, शर्त यह है कि यदि उन्हें भार देना हो, तो सम्पूर्णरूप से देना होगा, उसमें किसी प्रकार का बँटवारा करने से नहीं चलेगा।

## गिरीशबाबू और बकलमा

ठाकुर को बकलमा देकर गिरीशबाबू ने बड़े चैन की साँस ली, सोचा कि अब निश्चिन्त हो गये। इसके कुछ दिन बाद जब बातों बातों में गिरीशबाबू बोल उठे कि उनको कहीं एक जगह जाना होगा, तो तुरन्त ठाकुर बोल उठे, "यह क्या जी, तुमने क्या मुझे बकलमा नहीं दिया? फिर तुम 'यह करना होगा, वह करना होगा' क्यों कह रहे हो?" तब गिरीशबाबू ने समझा —

सच तो है, जब उनको बकलमा दिया है, तब थोड़ा उनका, थोड़ा मेरा करने से काम नहीं चलेगा। जहाँ पर हमारा अभिमान निहित है, उसे हम करेंगे और जो कठिन है, उसे वे करेंगे — इस प्रकार बँटवारा करने से काम नहीं चलेगा। इसीलिए शास्त्र कहते हैं कि सम्पूर्ण भाव से अनन्यचित्त होकर उनके शरणागत होना पड़ेगा। अनन्य हुए बिना नहीं होगा। यदि हम 'इसे भी थोड़ासा, उसे भी थोड़ासा' करें तो समझना होगा कि हमारी किसी पर निष्ठा नहीं है। इसीलिए कहा है — "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते" — अनन्यचित्त होकर यदि उनके शरणागत हुआ जाए तभी वे सब प्रकार से रक्षा करते हैं। ठाकुर यह बात गिरीश को ठीक से समझा देते हैं कि उनके प्रति अनन्य होना होगा और सम्पूर्ण रूप से उनके ऊपर सब कुछ छोड़ देना होगा। इस सम्बन्ध में बाद में गिरीश कहा करते थे — तब तो मैंने सोचा था कि बकलमा देकर निश्चिन्त हो गया हूँ, लेकिन बाद में प्रत्येक कार्य के पहले, यहाँ तक कि प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के पहले मुझे यह सोचना पड़ता था कि वह कार्य मैं कर रहा हूँ या ठाकुर कर रहे हैं। बकलमा देने का अर्थ इतना गूढ़ है, यह उस समय नहीं समझ सका था। ठाकुर भी यही बात बार-बार कहते थे, 'जगदम्बा करा लेती हैं, छोड़ती नहीं।' तभी तो उन्होंने संसार के सामने यह प्रदर्शित करने के लिए कि बात इतनी सरल नहीं है, अपनी प्रिय सन्तानों से कठोर साधना करा ली थी। फिर हाँ, यदि कोई उन पर निर्भर करता है, तब तो जो कराने का है, वे स्वयं करा लेते हैं।

इसके पश्चात् ठाकुर कह रहे हैं कि ब्राह्मसमाज पर ईसाई प्रभाव रहने से उसमें ईसाइयों के समान पाप और पापी पर विशेष जोर दिया जाता है। ठाकुर इसे बिलकुल पसन्द नहीं करते थे। इसी सम्बन्ध में उन्होंने अनेकों बार कहा था कि जो 'नाम' लेते हैं, जप करते हैं, वे इतने 'पापी पापी' क्यों करते हैं ? इससे तो यही लगता है कि उन्हें नाम पर उतना विश्वास नहीं है। पुराण में एक आख्यायिका आती है कि कोई राजा ब्रह्महत्या करके यह जानने के लिए एक ऋषि के पास गया कि उसका प्रायश्चित्त किस प्रकार होगा। ऋषि घर पर नहीं थे, ऋषिपुत्र था। वह बोला, "ब्रह्महत्या करके आये हो, ठीक है, तीन बार 'राम' कहो, अभी तुम निष्पाप हो जाओगे।" ऋषि के घर लौटने पर

बालक ने उन्हें सारी बात बतायी। सब सुनकर ऋषि बोले, "अरे, तूने यह क्या किया? एक रामनाम कोटि ब्रह्महत्या के पाप को हर लेता है, और तूने उससे तीन बार कहलवाया?"

तभी तो ठाकुर कह रहे हैं कि इतना नाम लेने के बाद भी मनुष्य जो अपने को 'पापी पापी' कहता रहता है, उससे यही समझना होगा कि नाम पर उसकी श्रद्धा नहीं है।

हमें भगवान् से ऐसा नाता जोड़ना होगा कि हम उनकी सन्तान हैं; उनके अनन्त आध्यात्मिक ऐश्वर्य पर हमारा अधिकार है; उनकी पवित्रता, उनकी शुद्धता, समस्त बन्धनों से उनकी उपरति — इन सब पर हमारा दावा है — ठाकुर के मतानुसार ऐसा दावा, जिस पर कोई नालिश नहीं चलती। तभी तो ठाकुर गाते थे —

आमि 'दुर्गा' 'दुर्गा' बोले यदि मा मरि।
आखेरे ए दीने, ना तारो केमने, जाना जाबे गो शंकरी॥
नाशि गोब्राह्मण, हत्या करि भ्रूण,
सुरापान आदि विनाशि नारो।
ए सब पातक, ना भाबि तिलेक, ब्रह्मपद निते पारि॥

(भावार्थ)

'दुर्गा' 'दुर्गा' कहते कहते यदि माँ निकले मेरे प्राण।
देखूँ भला शंकरी कैसे ना करती तू मेरा त्राण॥
अगर करूँ गो-द्विज-नारी-वध, भ्रूणघात औ' मदिरापान।
फिर भी तनिक न भय पातक का, ले सकता हूँ पदनिर्वाण॥

हममें ऐसा विश्वास चाहिए कि यदि मैं उनका नाम लेता हूँ तो उद्धार मेरी मुट्ठी में रखा है। पर यदि नाम लेकर भी हम चिन्ता करें तो समझना होगा कि उनके नाम में हमारा न तो वैसा विश्वास है, न भक्ति ही।

## शुद्धभक्ति

ठाकुर ने माँ से ऐसी शुद्धभक्ति की, अहैतुक भक्ति की याचना की थी, जिसका प्रयोजन न तो किसी साधना की दृष्टि से था, न किसी विशेष उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए, यहाँ तक कि मुक्ति के लिए भी नहीं। यदि

किसी में ऐसी भक्ति हो तो उसे संसार की किसी वस्तु के लिए प्रार्थना नहीं करनी पड़ती। भगवान् को साधारणतया हम लोग एक उपाय के रूप में ग्रहण करते हैं, हम कहते हैं – "भगवान्, मैं विपत्ति में पड़ा हूँ, मेरा उद्धार करो। मुझे यह दिला दो, वह दिला दो" इत्यादि। लेकिन शुद्धभक्ति इससे ठीक विपरीत है। उसमें एकमात्र उन्हें छोड़ और कोई काम्य नहीं होता। उसमें तो भक्त यही कहता है, "मैं और कुछ नहीं चाहता, भगवन्, एकमात्र तुम्हें ही चाहता हूँ, तुमसे प्रेम करना चाहता हूँ – ऐसा प्रेम जो निष्काम हो, जिसका कोई हेतु न हो।" तभी तो ठाकुर ने माँ के चरणों में शुचि-अशुचि, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म सब कुछ निवेदित कर दिया था, और केवल शुद्धभक्ति माँगी थी।

रामप्रसाद ने कहा था – 'यह संसार धोखे की टट्टी है।' पर प्रभु के पादपद्मों में भक्ति होने पर यही संसार 'मौज की कुटिया' बन जाता है। संसार की अनित्यता का विचार कर जब यह संसार मिथ्या, मायिक वस्तु प्रतीत होता है, तब लगता है कि यह संसार 'धोखे की टट्टी' है। किन्तु जब यह सिद्धान्त दृढ़ हो जाता है कि यह संसार उस एक परमेश्वर को छोड़ और कुछ नहीं है, भगवान् को छोड़ और कोई पृथक् सत्ता नहीं है, हम यह जो कुछ भी देख रहे हैं, वह सब ब्रह्मस्वरूप ही है, तब हम इस संसार में रहकर भी भगवान् की लीला का आस्वादन कर सकते हैं। और तब यह 'मौज की कुटिया' बन जाता है। तब ऐसी कोई आशंका नहीं रह जाती कि यह संसार मुझे बाँध लेगा, या कि यह मुझे ब्रह्म से दूर ले जाएगा।

ठाकुर कह रहे हैं – एक बार मैं आँख मूँदकर ध्यान करते हुए बैठा था, सोचने लगा कि क्या आँख बन्द करने से वे हैं और आँख खुली रखने से वे नहीं हैं ? सोचने लगा यह कैसा भाव है कि आँख बन्द करके ही उनका ध्यान करना होगा। वे क्या भीतर-बाहर सर्वत्र विराजमान नहीं हैं ? जगत् में क्या ऐसी कोई वस्तु है, जो उनसे रहित हो ? गीता में तो भगवान् ने कहा है – "न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम्" – पृथ्वी में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मुझसे रहित हो। जगत् के प्रत्येक अणु-परमाणु में वे ओत-प्रोत हैं, एक-एक धूलिकण के भीतर भी वे पूर्णरूप से विराजमान हैं – अंशतः नहीं, क्षुद्ररूप में नहीं; क्योंकि जो अखण्ड हैं, अविभाज्य हैं, उन्हें क्या टुकड़े-टुकड़े

करके विभक्त किया जा सकता है? जब मनुष्य को ऐसी बौद्धिक धारणा हो जाती है, तब क्या जगत् में ऐसी कोई वस्तु है जो उसे मोहग्रस्त कर सके? उपनिषद् कहता है कि जब कोई आत्मा को सर्वत्र देखता है, "तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः" — तब शोक कहाँ है, मोह कहाँ है?

इसके पश्चात् ठाकुर कह रहे हैं — यह बात सत्य है कि राजा जनक एक ही आधार में ज्ञानी तथा कर्मी दोनों थे; वे नित्य सत्य में प्रतिष्ठित थे, फिर इस संसार में सर्वसाधारण के समान व्यवहार भी करते थे। वे राजा थे, संसारी थे, पर संसार त्याग कर वे वनवासी नहीं हुए, अतः उनके ज्ञान के साथ संसार का कोई विरोध नहीं था। यह कहकर ठाकुर पुनः कह रहे हैं — "लेकिन झट से कोई राजा जनक नहीं बन जाता।"

**निर्जनवास और साधना**

राजा जनक का उदाहरण देते हुए हम बहुधा कह उठते हैं कि हम राजा जनक के समान संसार भी करेंगे और भगवान् का चिन्तन भी। लेकिन यह जो भगवान् में नित्यप्रतिष्ठित होना है, वह उतना सहजसाध्य नहीं है। उसके लिए बहुत साधना करनी पड़ती है। राजा जनक ने निर्जन में बहुत तपस्या की थी, तब कहीं वे राजा जनक हो सके थे। इसलिए संसार में रहते हुए भी बीच बीच में निर्जनवास करना होगा। निर्जन में जाकर यदि भगवान् के लिए तीन दिन भी रोया जाए, तो वह भी अच्छा। पर यह ध्यान रखना होगा कि वह केवल निर्जनवास के लिए निर्जन में वास नहीं है। यदि वैसा होता, तब तो निर्जन सेल (कोठरी) में बन्दी सभी कैदी धार्मिक हो जाते। पर ऐसा नहीं है। कारण यह है कि जब तक हम निर्जन में जाकर अपने मन का विश्लेषण नहीं करते, तब तक यह अन्दाज नहीं लगा सकते कि हमें अपने लक्ष्य से भ्रष्ट कर देने की कितनी शक्ति हमारे मन के पास है। जो प्रवाह के साथ अपने को बहा देता है, वह नहीं जानता कि प्रवाह की शक्ति कितनी प्रबल है। जब कोई प्रवाह की विपरीत दिशा में जाने की कोशिश करता है, तभी वह उसकी शक्ति का परिचय पाता है। अतः जो साधन-भजन करते हैं, वे जानते हैं कि वे जितना ही अपने मन को इष्ट में निविष्ट होने का निर्देश देते हैं, मन उतना ही इष्ट को छोड़ संसार की अन्य वस्तुओं के चिन्तन में लग जाता है। ऐसे मन के साथ इस

सर्वदा विक्षेपमय संसार के भीतर रहकर जूझना हमारे लिए सम्भव नहीं है। इसीलिए ठाकुर ने निर्जन में जाकर ईश्वरचिन्तन करने का उपदेश दिया। निर्जन में क्यों ? – इसलिए कि वहाँ चित्तविक्षेप की सम्भावना कुछ कम रहती है। हम निर्जन में ही मन के स्वरूप से परिचित हो सकते हैं और यह समझ सकते हैं कि मन हमें कहाँ ले जा रहा है, कितने प्रकार से हमें विभ्रान्त कर रहा है। निर्जन में विक्षेप का कोई कारण नहीं होता, इसलिए भगवान् के साथ हमारा निर्बाध सम्बन्ध हो सकता है। हम अहर्निश इस संसार के कोलाहल के बीच जिस तरह दिन काट रहे हैं, उसमें इस मन का संयम कर उसे भगवान् की ओर स्थिर बनाए रखना असम्भव हो जाता है। अतः मनुष्य को अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिए, और जब भी ऐसा अवसर मिले, उसे निर्जन में जाकर मन को ईश्वरचिन्तन में लगाने का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा अभ्यास करते करते तब कहीं भगवान् के प्रति एक आकर्षण, एक स्वाद, एक आनन्द का बोध होता है। इस आनन्द का पार्थिव आनन्द से बहुत अन्तर होता है। पार्थिव वस्तु से आनन्द पाना नितान्त स्वाभाविक है, क्योंकि मन की स्वाभाविक गति ही उस ओर है; किन्तु भगवदानन्द की ओर इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है, इसीलिए भगवान् की ओर मन को मोड़ने के लिए मन के साथ युद्ध करना पड़ता है, प्रयत्न करना पड़ता है, अभ्यास करना पड़ता है, तब कहीं धीरे धीरे उस आनन्द का आस्वाद मिल पाता है।

□ □ □

# ११. केशवचन्द्र सेन के साथ – ५

(वचनामृत १।१३।७-८ : २७ अक्टूबर १८८२)

## केशव और विजय * का मतभेद

श्रीरामकृष्ण केशव के साथ स्टीमर में बैठ गंगाजी के वक्ष पर भ्रमण कर रहे हैं। अविराम ईश्वरप्रसंग चल रहा है। विजय और केशव के बीच जो मतभेद है, ठाकुर उसे दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं। केशव और विजय परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ थे। बाद में मतभेद हो जाने से विजय केशव के ब्राह्मसमाज को छोड़कर अलग हो गये। परिणामतः दोनों के अनुचरों के बीच मनमुटाव दिखाई पड़ने लगा। इसलिए ठाकुर इन दोनों के बीच सुलह करा देने की कोशिश करते हैं। उनके मतभेद का उल्लेख करते हुए ठाकुर कहते हैं कि उनका झगड़ा मानो शिव और राम के झगड़े के समान है। शिव के गुरु राम हैं और राम के गुरु शिव। अतः उनका झगड़ा तो मिट गया, लेकिन उनके अनुचरों अर्थात् बन्दरों और भूत-प्रेतों का झगड़ा नहीं मिटा। ठाकुर और भी कहते हैं, गुरु-शिष्य का यह झगड़ा कोई नयी बात नहीं है। गुरु के साथ रामानुज का मतभेद हुआ था। लेकिन गुरु-शिष्य का सम्बन्ध मानो पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है। बाहर से उनमें परस्पर कितना भी विरोध क्यों न दिखे, पर भीतर उनमें एक दूसरे के प्रति एक गहरा खिंचाव बना रहता है।

इसके बाद ठाकुर केशव को समझाते हैं – तुम्हारा दल इसलिए टूट रहा है कि तुम स्वभाव देखकर शिष्य नहीं बनाते। कहना न होगा कि केशव के दल के फूटने का कारण था उनका अपनी अल्पवयस्क कन्या का विवाह कूचबिहार के राजा के साथ कर देना। ब्राह्मसमाज के कर्णधार होते हुए भी समाज की इस प्रतिज्ञा को कि अल्पवयस्क लड़की का विवाह नहीं करेंगे, उन्होंने स्वयं ही तोड़ा। इससे विरोध पैदा हुआ और विजयकृष्ण गोस्वामी ने उनके दल को छोड़कर एक नये दल का गठन किया।

---

* विजयकृष्ण गोस्वामी – ब्राह्मसमाज के अग्रणी नेता।

## ठाकुर की अभिमानशून्यता

ठाकुर कह रहे हैं कि केशव गुरु बनकर बिना विचार किये जिस किसी को भी शिष्य के रूप में ग्रहण कर लेते हैं; परिणामतः सभी उन्हें समभाव से ग्रहण नहीं कर पाते और इसी कारण दल फूट जाता है। ठाकुर कह रहे हैं — लेकिन मेरा भाव तो दूसरा है, मैं तो खाता-पीता मस्त हूँ, बाकी सब मेरी माँ जाने। तीन बातें मेरे शरीर में काँटे जैसी चुभती हैं — गुरु, कर्ता और पिता। अर्थात् 'मैं गुरु हूँ' — यह भाव उनमें नहीं है। ऐसी कर्तृत्वबुद्धि रहने से अभिमान पैदा होता है और अभिमान से ही पतन होता है। देखा जाता है कि कर्तृत्वबोध के कारण मनुष्य में दूसरों को चलाने का आग्रह बहुत रहता है, पर स्वयं के चलने के प्रति आग्रह उतना नहीं रहता। फल वही होता है जैसा उपनिषद् में कहा गया है — 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' — उसकी अवस्था अन्धे के द्वारा चलाये जानेवाले अन्धे के समान होती है। इस गुरुगिरी से केशव को सावधान किये दे रहे हैं। दूसरी ओर वे अपने भाव की बात कह रहे हैं कि मैं तो माँ के हाथ का यन्त्र हूँ। माँ जैसा चलाती हैं, वैसा ही चलता हूँ। जब तक तत्त्व दुर्ज्ञेय है, पथ अज्ञात है, उस पर दूसरे को चलाना कितना कठिन है! उस पथ पर दूसरे को चलाने से पहले हमें स्वयं अपने आप से प्रश्न पूछना होगा कि क्या हम भ्रम से शून्य हैं? हम स्वयं यदि भ्रमरहित नहीं हैं, तो दूसरे को जो निर्देश देंगे, वह भ्रान्तिशून्य कैसे होगा? इसलिए ठाकुर कहते हैं कि सब कुछ ईश्वर के ऊपर छोड़ देना चाहिए।

गुरु वे ही हो सकते हैं, जिन्हें ईश्वर गुरु होने का निर्देश देते हैं। तब ईश्वर उनके भीतर प्रतिष्ठित हो अन्यों को परिचालित करते हैं। वहाँ गुरु का कोई कर्तृत्व नहीं होता, कर्तृत्व तो भगवान् का होता है। गुरु वहाँ एक माध्यम बनकर कार्य करता है। यदि भगवान् हमें अन्य लोगों को परिचालित करने का अधिकार न दें, तो हम लोगों की बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ईसामसीह उपदेश दे रहे थे। एक ने कहा — 'He speaks like one with authority' — उनकी बातों में ऐसा जोर है कि लगता है, वे आदेश पाकर बोल रहे हैं।

## गुरु-शिष्य-सम्बन्ध

ठाकुर कह रहे हैं कि गुरु एक सच्चिदानन्द भगवान् को छोड़ और कोई

नहीं है। शास्त्र का भी यही सिद्धान्त है। जब हम प्रणाममन्त्र में कहते हैं – 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः', तब हमें यही लगता है कि 'मेरे गुरु अमुक पण्डितजी हैं' – वे ब्रह्मा, विष्णु या महेश्वर हैं, यह बात अनुभव में नहीं आती। शास्त्र के तात्पर्य को यहाँ पर हमें भाव की दृष्टि से समझना होगा। अमुक पण्डितजी का मैंने जो नाम लिया, वे गुरु नहीं हैं – गुरु हैं साक्षात् सच्चिदानन्द ईश्वर। हो सकता है वे किसी आधार को माध्यम बना अपनी कृपा का वितरण करें, लेकिन वह कृपावितरण तभी सार्थक होता है, जब वह माध्यम शुद्ध होता है। यदि उस माध्यम में अशुद्धि रहे, तो उनकी कृपा अबाध रूप से प्रवाहित नहीं हो पाती। इसलिए किसी का गुरुरूप में वरण करने से पूर्व शिष्य के लिए उचित है कि वह उसके गुरु होने के अधिकार-अनधिकार का विचार करे। शास्त्र कहते हैं कि जिस व्यक्ति का गुरुरूप में वरण करना हो, उसे जानना होगा, उसके साथ परिचित होना होगा, उसके आचरण को देखना होगा। गुरु यदि अनधिकारी हो, तो वह शिष्य को ठीक ठीक परिचालित नहीं कर सकेगा। यही शास्त्र का सिद्धान्त है। शिष्य के प्रति भी ठीक इसी प्रकार का विचार प्रयोजनीय है। शिष्य भी यदि उपयुक्त गुणों से सम्पन्न न हो तो वह भी आगे नहीं बढ़ सकेगा। गुरु को स्वयं शुद्धचरित्र होना होगा, शिष्य के प्रति कारुणिक हो उसके मार्गदर्शन के लिए उन्हें यथासाध्य चेष्टा करनी होगी, तथा इस सम्बन्ध में अत्यधिक सावधान रहना होगा कि शिष्य के प्रति उनके मन में किसी प्रकार का आर्थिक आदान-प्रदान का भाव न रहे, गुरु-शिष्य-सम्बन्ध कहीं व्यावसायिक न बन जाए। शास्त्र कहते हैं कि गुरु श्रोत्रिय यानी शास्त्रज्ञ हों; वे ब्रह्मनिष्ठ हों; शास्त्र के सिद्धान्त को जीवन में उतारकर उसमें प्रतिष्ठित रहें; वे अकामहत हों अर्थात् शिष्य के साथ उनके सम्बन्ध के पीछे उनकी कोई कामना निहित न हो। फिर वे अपने अहं के अभिमान से मानो रहित रहें। गुरु अपनी अयोग्यता का सब से अधिक परिचय तब देंगे, जब वे अपने अहं को यह कहकर प्रदर्शित करेंगे कि 'मैं उपदेश देता हूँ, सुनो। मैं निर्देश देता हूँ, तुम इसके अनुसार चलो।' गुरु को यह जान रखना होगा कि वे मात्र एक आधार हैं, ठीक वैसे ही जैसे हमारे लिए एक मिट्टी की प्रतिमा माध्यम बनती है। प्रतिमा जैसे देवता नहीं

है, वैसे ही वे भी गुरु नहीं हैं, मात्र गुरुशक्ति के प्रकाश का एक माध्यम है। इसलिए ठाकुर कह रहे हैं — गुरु वही सच्चिदानन्द हैं तथा इस दृष्टि से देखने पर ही 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः' यह कहना सम्भव होगा। मनुष्य होकर जन्म लेने से व्यक्ति में कुछ न कुछ अपूर्णता रहेगी ही, अतः वह अपूर्ण व्यक्ति कभी परब्रह्म नहीं हो सकता, यह बात सब को समझ लेना उचित है, विशेषकर उनको जो गुरुपद पर प्रतिष्ठित हैं। रवीन्द्रनाथ कहते हैं —

"पथ भावे आमि देव, रथ भावे आमि
मूर्ति भावे आमि देव, हासे अन्तर्यामी॥"

— 'रथ, पथ, मूर्ति ये सभी अपने आपको देवता समझते हुए प्रणाम का उद्देश्य मान बैठते हैं, और अन्तर्यामी यह सोचकर हँसते हैं कि ये लोग कैसी भूल कर रहे हैं।'

उपनिषद् में एक कथा आती है कि देवतागण युद्ध में असुरों को परास्त करके बहुत अभिमानी हो उठे थे। सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ब्रह्म देवताओं के इस मनोभाव को समझ गये और वे उनके अभिमान को दूर करने के लिए एक अपूर्व यक्ष के रूप में आविर्भूत हुए। देवता उन्हें पहचान न सके। तब उन्होंने अग्नि को उन्हें पहचानकर आने के लिए भेजा। अग्नि को देखकर यक्ष ने पूछा, "तुम कौन हो जी?" अग्नि के अभिमान को धक्का लगा। अग्नि बोला, "मैं अग्नि हूँ, मैं जातवेदा हूँ।" आगन्तुक बोल उठे, "समझा, तुम्हारे छोटे बड़े बहुत नाम हैं, लेकिन यह तो बताओ कि, तुम क्या कर सकते हो!" "मैं सारे संसार को जलाकर खाक कर सकता हूँ।" — अग्नि गरज उठा। "ऐसा? तो जरा इस तिनके को जलाओ तो।" — आगन्तुक के ओठों पर व्यंग्य की हँसी खेल उठी। सुनकर अग्नि को बुरा तो लगा, पर क्या करे, वह लगा तिनके को जलाने। पर यह क्या? सारी शक्ति का प्रयोग कर चुकने पर भी वह उस तिनके पर आँच तक नहीं लगा सका। लज्जा के मारे सिर झुकाकर वह लौट आया। तब वायु को भेजा गया। वायु की भी अग्नि ही के समान ही दुर्दशा हुई। तब स्वयं इन्द्र गये। इन्द्र को और अधिक चोट पहुँचाने के लिए यक्ष अन्तर्धान हो गये। इन्द्र लज्जित होकर सिर लटकाए खड़े थे कि ऐसे समय वहाँ उमा हैमवती का आविर्भाव हुआ। वे बोलीं, "इन्द्र, तुम्हारे सामने जो आविर्भूत

हुए थे, उन्हें तुम लोग नहीं पहचान सके। वे ही तो परब्रह्म हैं। असुरों के साथ युद्ध में उन्हीं की जय हुई है, उसमें तुम लोगों की कोई बहादुरी नहीं है।"

इसी प्रकार यदि हम सोचें कि कोई कार्य हमारी शक्ति से हो रहा है, तो हम भूल करेंगे। हममें अपनी कोई सामर्थ्य नहीं है। हमारे पीछे सर्वशक्ति का आधार विद्यमान है। वही हमें चलाता है, जैसे सूत्रधार धागे से कठपुतलियों को नचाता है। ठाकुर उपमा देते हुए कहते हैं – जैसे आलू-परवल सीझने के समय उछलते दिखाई देते हैं; नीचे आग है, वही उन्हें उछालती है; आग के हटा लिये जाने पर सब कुछ ठण्डा पड़ जाता है। शास्त्र में कहा गया है – 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्, सर्वेभ्यो भूतेभ्यो अन्तरः, यं सर्वाणि भूतानि न विदुः, यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्, यः सर्वाणि भूतानि अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः' – अर्थात् जो सर्वभूतों में अवस्थित है, सर्वभूतों से अलग है, सर्वभूत जिसे नहीं जानते, सर्वभूत जिसका शरीर है, समस्त भूतों के भीतर रहकर जो उनका नियन्त्रण कर रहा है – यही नियन्त्रणकर्ता अन्तर्यामी ही अमरणधर्मा आत्मा है।

विडम्बना यह है कि जिसकी शक्ति से सारी क्रियाएँ हो रही हैं, हमारी समस्त चेष्टाएँ नियन्त्रित हो रही हैं, उसी को 'सर्वाणि भूतानि न विदुः' – सर्वभूत नहीं जानते; और न जानने के कारण ही लोग भूल करके सोचते हैं कि 'मैं कर रहा हूँ'। यह जो स्वयं को कर्ता के आसन पर बैठाना है, इसी का नाम है अविद्या, अज्ञान। तभी तो ठाकुर बार बार कहते हैं – "नाहं नाहं, तुहूँ तुहूँ" – मैं नहीं, सब कुछ तुम्हीं हो। इस दृष्टि से जब तक हम नहीं देखेंगे, तब तक उस आत्मा का प्रकाश हमारे भीतर नहीं होगा और हम आँखों में पट्टी बाँधकर कोल्हू के बैल की तरह इस विश्व में जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसे हुए घूमते रहेंगे।

इसलिए जब तक ईश्वर आदेश नहीं देते, तब तक गुरु का पद ग्रहण करना उचित नहीं है। तर्कचूड़ामणि पण्डित शशधर शास्त्री से जब ठाकुर ने यह आदेशवाली बात पूछी, तब उन्हें कुछ संकोच का अनुभव हुआ। तभी तो ठाकुर कह रहे हैं कि आदेश प्राप्त किये बिना बात में वजन नहीं होगा, कोई यह न कहेगा कि 'He speaks like one with authority'.

### ईश्वरलाभ और लोककल्याण

इसके पश्चात् ठाकुर कह रहे हैं – "तुम लोग जगत् के उपकार की बात कहते हो, जगत् को शिक्षा देने की बात कहते हो। तुम कौन होते हो जगत् का उपकार करनेवाले? पहले उन्हें (भगवान् को) प्राप्त करो; उनके शक्ति देने पर तब कहीं तुम दूसरों का उपकार कर सकोगे, अन्यथा नहीं।" कई बार हम जगत् का उपकार करने की बात सोचते हैं। यह और कुछ नहीं, केवल अपने अन्तःकरण के छिपे अहंकार को एक आकर्षक रूप में प्रकाशित करना मात्र है। ईसामसीह ने एक सुन्दर बात कही थी कि 'तुम्हारी आँख में कुछ पड़ गया है। और एक अन्य व्यक्ति की आँख में भी कुछ पड़ गया है। तुम उसकी आँख की किरकिरी निकालने जाते हो। पहले तुम अपनी आँख की किरकिरी तो निकाल लो। तभी तो देख सकोगे और दूसरे की आँख की किरकिरी निकाल सकोगे। हम अपने बारे में तो विचार करते नहीं और दूसरों के कल्याण की चिन्ता में व्यस्त हो जाते हैं। इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं – "जिनका जगत् है, वे क्या जगत् का कल्याण करने में समर्थ नहीं हैं, जो तुम्हें जगत् का कल्याण करना होगा?" कल्याण के सम्बन्ध में भला तुम्हारी धारणा ही कितनी है, जो तुम जगत् का कल्याण करोगे?

'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः' – एक केश को सौ भागों में चीरने के बाद उसके एकशतांश को पुनः सौ बार चीरने से जितना सूक्ष्म वह होगा, उतना यह जीव है। और इतनासा जीव अहंकार करता है कि मैं जगत् का कल्याण करूँगा! यह कैसा विकट अभिमान है कि मैं जगत् का कल्याण करूँगा और सारी दुनिया मेरे इस उपकार की भिखारी बनी रहेगी।

तभी तो 'जीव पर दया' की बात को सुनकर ठाकुर बोल उठे थे, "दया! दया करनेवाले तुम होते कौन हो! कहो – 'जीव की सेवा'।" सभी जीवों में वे शिव ही हैं, इस दृष्टि से उनकी सेवा करना। यदि हम इस भाव को ग्रहण करें, तभी हमारा कर्म साधना में परिणत होगा, नहीं तो जीवों पर दया करने जाने से हमारा अभिमान हिमालय के समान विशाल हो उठेगा, जिसके भार से हम पिस जाएँगे। स्वामी विवेकानन्द, जिन्होंने कर्म की इतनी बातें कहीं, यह भी कहते हैं कि "यह जगत् मानो एक कुत्ते की पूँछ की तरह है।

खींचतान करने से लगता है मानो अब सीधी हो गयी। लेकिन छोड़ते ही जस की तस हो जाती है।"

## जीवसेवा

सच तो यह है कि यह जगत् एक पाठशाला है। इस पाठशाला में हम सीखने के लिए आये हैं। यदि सीखने की दृष्टि लेकर हम काम करें, तब तो हमें कुछ लाभ होगा, अन्यथा नहीं। 'जगन्नाथ का रथ उन्हीं की शक्ति से चलता है, तुम्हारी शक्ति से नहीं। तुम उस रथ की रस्सी को छूकर स्वयं के जीवन को सार्थक कर सकते हो, बस इतना ही।' अतएव 'मैं समाज का सुधार करके, या अनेक जनहितकर कार्य करके इस जगत् का उपकार करूँगा' – यह हमारा भ्रान्त अभिमान है। भगवान् ने हमें इस संसार में आने का सुअवसर दिया है, जिससे हम कर्म करते हुए स्वयं को धन्य बना लें, और यह कर्म हमें सेवा के भाव से करना होगा, दया के भाव से नहीं। तभी तो स्वामीजी ने कहा था – दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव। सर्वत्र वे ही हैं। उनकी सेवा करो – जहाँ जैसी आवश्यकता हो वहाँ उसी प्रकार से। यही समझना होगा कि जहाँ जैसी आवश्यकता है, वहाँ भगवान् हमारी पूजा उसी रूप में ग्रहण करने के लिए विराज रहे हैं। भक्तिशास्त्र में जहाँ भी पूजा की बात कही गयी है, वहाँ इसी भाव से कही गयी है। जैसे गौ की पूजा करनी है तो उसे सिंहासन पर बिठाकर नहीं करनी होगी, नहीं तो वह बड़े बखेड़े की बात हो जाएगी। केवल मनुष्य ही नहीं, बल्कि सर्वत्र सब जीवों में, जहाँ जिस रूप में आवश्यकता हो, उसी प्रकार पूजा करनी होगी – भक्ति का भाव लेकर, सेवा का भाव लेकर। और इस प्रकार से कर्म करने पर फिर हम चाहे कुछ भी क्यों न करें, सब उनकी ही पूजा, उनकी ही आराधना हो उठेगा।

□ □ □

# १२. केशवचन्द्र सेन के साथ – ६

(वचनामृत १।१३।१० : २७ अक्टूबर १८८२)

## लोकशिक्षा कठिन कार्य

ठाकुर कह रहे हैं, "लोगों को शिक्षा देना बड़ा कठिन है।" जो शिक्षा देगा, वह भगवान् का आदेश पाने पर। तब कहीं इस गुरुतर कार्य का निर्वाह कर सकेगा; ऐसा न होने से उसकी बातों का न तो कोई प्रभाव पड़ेगा, न ही उसकी कोई संगति होगी। जब हम अपनी सीमित बुद्धि के द्वारा असीम को समझाने जाते हैं, तब स्वाभाविक रूप से ही हमारी बातों में विसंगति आ जाती है। ठाकुर दृष्टान्त देते हुए सामाध्यायी की बात कहते हैं। सामाध्यायी व्याख्यान दे रहे हैं – 'भगवान् नीरस हैं, तुम लोगों को उन्हें भक्तिरस में डुबोकर रसवान् बना लेना होगा।' देखो तो, वेदों में जिन्हें रसस्वरूप कहा गया है, उन्हें यहाँ नीरस कहा जा रहा है! इस प्रकार की विसंगति तब आती है, जब मनुष्य अनुभूतिशून्य बात कहता है। ठाकुर उपमा देते हुए कह रहे हैं – कोई जब यह कहे कि 'हमारे मामा के घर में गोशाला भर घोड़े हैं', तो यह भी वैसी ही एक विसंगति हुई; इससे यही समझना होगा कि घोड़े तो हैं ही नहीं, गाय भी नहीं हैं! इस प्रकार की विसंगति तब होती है, जब हम अपनी बुद्धि का आश्रय लेकर बोलते हैं। जैसा कि एक दिन बेलुड़ मठ में हुआ। एक व्यक्ति गाना गा रहा था – 'माझे माझे तव देखा पाइ, चिर दिन कैनो पाइ ना' (मैं बीच बीच में तुम्हारा दर्शन पाता हूँ, सब दिन क्यों नहीं पाता)। गाना सुनकर महापुरुष महाराज बड़े असन्तुष्ट हुए। बोले, "अनुभव न करके केवल काव्यरचना की है, इसीलिए ऐसी बात कह रहा है। जिस वस्तु का एक क्षण का स्वाद मनुष्य के जीवन को परिवर्तित कर दे सकता है, उसके सम्बन्ध में कह रहा है – 'बीच बीच में तुम्हारा दर्शन पाता हूँ, सब दिन क्यों नहीं पाता'!" इसका कारण यह है कि जीवन में उसने उसका स्वाद ही नहीं पाया है, इसीलिए वह नहीं जानता कि उसका एक क्षण का आस्वादन जीवन को कितना परिपूर्ण

कर दे सकता है। 'भागवत' में वर्णन आता है : नारद पाँच वर्ष के बालक थे। उनका एकमात्र बन्धन था उनकी माँ। माँ की मृत्यु के उपरान्त वे तीव्र वैराग्य से युक्त हो संसार त्यागकर चले जा रहे थे। एक स्थान पर एक वृक्ष के नीचे बैठकर वे गम्भीर ध्यान में मग्न हो गये। ऐसी अवस्था में उन्हें हृदय में भगवान् के आविर्भाव का अनुभव हुआ। उनका अन्तःकरण परिपूर्ण हो उठा। कुछ देर बाद भगवान् अन्तर्धान हो गये। तब वे व्याकुल होकर अन्तःकरण में पुनः दर्शन चाहने लगे। ऐसे समय उन्हें देववाणी सुनाई पड़ी, "नारद, तुमने जो अनुभव किया है, उसी से तुम्हारा सारा जीवन परिपूर्ण रहेगा। अब तुम इस नाम का गुणगान करते हुए विचरण करो। उसी में तुम्हारे जीवन की सार्थकता है।" देखो, एक क्षण के दर्शन ने उनके समग्र जीवन को परिपूर्ण कर दिया। यह है तत्त्वज्ञ का, रसिक का भाव; यह कविता नहीं है, यह है अनुभूति। अतएव यदि किसी को साक्षात् आदेश मिला हो, तभी उसके द्वारा लोकशिक्षा देना सम्भव है, अन्यथा नहीं। इस लोकशिक्षा के कार्य में यह देखना होगा कि मनुष्य स्वयं अपने आपको किस दृष्टि से देखता है, अपने कर्म का किस प्रकार से मूल्यांकन करता है। यदि वह लोकशिक्षा देते समय अभिमान न रखे, मात्र चर्चा की दृष्टि से भगवत्कथाप्रसंग करे, तो इसमें दोष नहीं। लेकिन वह यदि ऐसा अभिमान करे कि 'मैं उपदेश दे रहा हूँ', तब तो यह अज्ञानता छोड़कर और कुछ नहीं है।

'भागवत' में कहा है कि एक दिन श्रीकृष्ण की रानियाँ परस्पर चर्चा कर रही थीं कि उनमें से किसने भगवान् में कौनसा गुण देखा और उनके प्रति आकृष्ट हो गयी। सभी अपना अपना अनुभव बताने लगीं। यहाँ पर ध्यान रखना होगा कि उनके इस परस्पर वार्तालाप में एक सौन्दर्य है, एक स्वाभाविकता है, अहंकार नहीं। अहंकार तब होता, जब वे यह कहतीं कि भगवान् मात्र इस प्रकार के हैं, अन्य प्रकार के नहीं। वे तो केवल यह बता रही हैं कि वे उनका कौनसा गुण देखकर आकृष्ट हुईं। भगवान् अनन्त हैं, उनमें अनन्त प्रकार का वैचित्र्य है, उनके अनन्त गुण हैं। यह किसी को उपदेश देना नहीं है, यह केवल परस्पर भावविनिमय है। इसमें कोई दोष नहीं। दोष तब होता है, जब कोई अपने ऊपर गुरुभाव लादकर अभिमान से पैर पर पैर

चढ़ाकर कहता है, "मैं कहता हूँ, तुम सुनो।"

## संसारी का कर्तव्य

इसके पश्चात् एक व्यक्ति प्रश्न करता है, "जब तक ईश्वरलाभ नहीं होता, तब तक क्या सब कर्म त्याग दें ?" इसके उत्तर में ठाकुर कह रहे हैं, "नहीं, सब कर्मों का त्याग क्यों करोगे ? उनका चिन्तन, उनका नामगुणगान, नित्यकर्म, यह सब करना होगा।" यह सब इसलिए करना होगा कि यह उनको पाने का उपाय है। जो कुछ इसके प्रतिकूल है, उस सब से यथासाध्य दूर रहना होगा। इस पर उस ब्राह्मभक्त ने पुनः पूछा, "लेकिन संसार के कर्मों का, धन-सम्पत्ति से सम्बन्धित कर्मों का क्या होगा ?" ठाकुर कहते हैं, "हाँ, वह सब भी करना — संसारयात्रा के लिए जितनी आवश्यकता हो।" पर हाँ, कर्म में इतनी व्यस्तता न हो जाए कि भगवान् का चिन्तन करने के लिए एक क्षण भी न बचे। जीवन में सांसारिक कर्मों का भी एक अंश है। उन कर्मों के लिए कुछ समय रखना होगा; लेकिन साथ साथ यह भी देखना होगा कि वे कर्म मानो हमारा सारा समय ही न खा लें। भगवान् को बिसरकर कर्म नहीं करना है, बल्कि कर्म तो उन्हें पाने के लिए है। इसीलिए ठाकुर ने संसारी लोगों से कहा है — एक हाथ से भगवान् को पकड़ो और दूसरे हाथ से कर्म करो। ये सब बड़ी महत्त्वपूर्ण बातें हैं, इसलिए पुनरावृत्ति होने पर भी बार बार विचार करने योग्य है। हम अधिकांशतः संसार में डूबे हुए हैं, संसार के कामकाज लेकर व्यस्त हैं, इसलिए कई बार ऐसा लगता है कि इस व्यस्तता के बीच हम कहीं उन्हें भूल तो नहीं जाएँगे! मन में संशय उठता है और इस संशयाकुल मन में बार बार प्रश्न उठता है, "तो फिर उपाय क्या है ?" उपाय क्या है — यह तो ठाकुर विभिन्न परिवेशों में कई बार बता चुके हैं। उनमें कभी किसी ने निराशा का भाव नहीं देखा। वे सब के लिए नितान्त आशावादी हैं। सभी का होगा, केवल आन्तरिकता चाहिए। जब तक संसार का दायित्व है, तब तक एक हाथ से उन्हें पकड़कर दूसरे हाथ से संसार का कामकाज करो, और जब वे तुम्हें दायित्वों से मुक्ति दे दें, तब उन्हें दोनों हाथों से पकड़ लेना।

## दुनिया का भला करना

आजकल अनेक लोग कहते हैं कि पहले दुनिया का भला करना होगा।

यह इस आधुनिक समाज की मनोवृत्ति का ही परिणाम है। इस प्रसंग में ठाकुर कह रहे हैं, "दुनिया क्या इतनीसी है जी, जो तुम उसका भला करोगे ? जो करना है, वे ही करेंगे, जिनकी यह दुनिया है। तुम इतने बेचैन क्यों हो ?" थोड़ासा विचार करने से ही समझ में आ जाएगा कि मैं दुनिया का भला करने के लिए जो इतना बेचैन हूँ, उसके पीछे कारण के रूप में संसार के दीन-दुःखी लोगों के प्रति आन्तरिक सहानुभूति है अथवा और कुछ। और इस 'और कुछ' का मूल यदि हम खोजते चलें, तो हम देखेंगे कि इसके पीछे हमारा छिपा अहंकार है, प्रतिष्ठा-अर्जन की छिपी वासना है। यदि हम यह मनोभाव लेकर कर्म करें, तब तो वह हमें आत्मसम्मान की उपलब्धि की ओर खींच ले जाएगा और हमें विभ्रान्त कर देगा। यह कर्म का दोष नहीं है, दोष है कर्म करने के कौशल का सहारा न लेने का। यह कौशल है भगवान् को पकड़कर कर्म करना, जिससे कर्म की धारा जीवन के उद्देश्य को ही बहाकर न ले जाए। ठाकुर ने शम्भु मल्लिक से कहा था, "भगवान् से भेंट होने पर क्या तुम बहुत से स्कूल, अस्पताल और दवाखाने माँगोगे ?" ऐसा उन्होंने क्यों कहा ? ये सब तो अच्छे कार्य हैं ! अच्छे कार्य तो हैं, लेकिन भगवान् के आस्वादन को गौण करके कुछ अस्पताल-दवाखानों को मुख्य बना देना वैसा ही है जैसे कंचन को फेंककर काँच को लेकर खेलना। वस्तुतः भगवान् ही मुख्य हैं, वे ही प्रधान हैं — उसके बाद अन्य सब। इसलिए कह रहे हैं, "पहले जैसे भी हो, काली के दर्शन कर लो।" तात्पर्य यह है कि हम इस जगत् में भगवान् को पाने आये हैं, उनका आस्वादन करने आये हैं — यह बात कहीं हम भूल न जाएँ। 'वचनामृत' में हम पढ़ते हैं कि ठाकुर के एक जन्मदिन के अवसर पर भवनाथ दक्षिणेश्वर गये और वहाँ थोड़ी देर रुककर किसी बैठक में भाग लेने के लिए उठ खड़े हुए। बैठक श्रमिककल्याण के सम्बन्ध में थी। ठाकुर कहने लगे, "यहाँ कितना हरिनाम होगा, कितना आनन्द मनाया जाएगा, पर यह सब उसके भाग्य में नहीं है।" ठाकुर को अफसोस हुआ। लेकिन क्यों ? भवनाथ तो अच्छा कार्य करने ही जा रहे थे। कार्य अच्छा तो था, लेकिन सामने भगवद्भजन का जो सुअवसर था, उसकी उपेक्षा करके एक लोकहितकर कार्य की दुहाई देना ठाकुर की दृष्टि में एक स्वर्णिम अवसर को गँवा देने के समान था।

## आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च

स्वामी विवेकानन्दजी ने 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' यह जो रामकृष्ण मिशन का आदर्श रखा, उसमें उन्होंने स्वयं की मुक्ति की साधना के साथ जगत् के हित को जोड़ दिया। संन्यासियों के सामने भी उन्होंने यही आदर्श रखा। कई बार लोगों के मन में संशय उठता है कि जगत् का हित करने जाकर कहीं हमारे स्वयं के मोक्ष में तो बाधा नहीं पड़ेगी? एक साधु ने यही बात हरि महाराज को लिखी थी। हरि महाराज खूब त्याग-वैराग्य का उपदेश देते थे, इसलिए साधू ने सोचा था कि हरि महाराज उसका समर्थन करेंगे। उसने लिखा था – "मैं समझता हूँ कि अब और कामकाज नहीं करूँगा, क्योंकि वह करने से अहंकार आता है।" हरि महाराज ने उसके उत्तर में लिखा – "तुम क्या समझते हो कि हाथ-पाँव समेटकर बैठे रहने से अहंकार नहीं आएगा?" यह बात हमें ठीक से समझ लेनी होगी कि मनुष्य जिस भाव में गठित है, उसके मन की जो विभिन्न प्रकार की वृत्तियाँ हैं, उन सब को लेकर ही उसे भगवान् की ओर जाने की चेष्टा करनी होगी। हमारे अन्तःकरण में विचार करने के लिए जो मनरूप यन्त्र हैं, उसके द्वारा जैसे उनका चिन्तन करना होगा, उसी प्रकार बाहर की समस्त इन्द्रियों के द्वारा उनकी सेवा करनी होगी। स्वामीजी यह बात बार बार कहते थे कि भगवान् की सेवा को केवल विग्रह में सीमित रखने से समझना होगा कि हमने उनकी सेवा को सँकरा बनाकर रख दिया।

### भागवतवाणी

इस सम्बन्ध में 'भागवत' में बड़ी अच्छी बात कही गयी है –

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥

– जो भगवान के विग्रह मात्र में उनकी पूजा करते हैं, पर भगवान् के भक्तों की ओर जिनकी दृष्टि नहीं होती, उन्हें प्राकृत भक्त कहते हैं, अर्थात् प्रकृति का प्रभाव उन पर अधिक होता है। और श्रेष्ठ भक्त के सम्बन्ध में कहा गया है–

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येषु भागवतोत्तमः॥

— श्रेष्ठ भक्त वे हैं, जो सर्वभूतों में स्वयं की आत्मा को देखते हैं तथा 'भूतानि भगवति आत्मनि', अर्थात् समस्त भूतों को उस भगवान् में देखते हैं, जो उनकी आत्मा ही है। आत्मा जैसे प्रिय होती है, वैसे ही उन्हें सर्वभूत प्रिय होते हैं। भगवान् जैसे पूजनीय हैं, सर्वभूतों में अवस्थित भगवान् भी उसी प्रकार पूजनीय हैं। तभी तो 'जीवदया' की बात ठाकुर को पसन्द नहीं आयी। इसके बदले उन्होंने कहा था, 'शिवज्ञान से जीवसेवा'। इसे सुनकर स्वामीजी बोल उठे थे, "आज एक ऐसा उपदेश प्राप्त हुआ कि यदि भगवान् कभी अवसर देंगे तो उसका सर्वत्र प्रचार करूँगा।" तभी तो ठाकुर मानो उन्हें लेकर आये थे और उन्हें अपने हाथ के यन्त्र के रूप में तैयार किया था। इसी का परिणाम था कि आध्यात्मिक जगत् में एक नयी साधना की धारा प्रवर्तित हुई। लोककल्याण की बात पहले भी प्रचलित थी, लेकिन सर्वभूतों में उनकी सेवा के भाव को इस प्रकार स्पष्ट करके किसी ने नहीं कहा था। यद्यपि 'भागवत' में इसका उल्लेख है, तथापि ऐसा लगता है कि साधनात्मक जीवन में इसका प्रयोग करने के लिए ऐसा सुस्पष्ट निर्देश और कहीं भी नहीं मिलता। तभी तो ठाकुर ने कहा है, "भगवान् की पूजा जब वृक्ष में हो सकती है, पत्थर में हो सकती है, प्रतिमा में हो सकती है, तब मनुष्य में क्यों नहीं हो सकती ?" सब जीवों की अपेक्षा मनुष्य में भगवान् का श्रेष्ठ प्रकाश है, क्योंकि इस मनुष्य के भीतर ही उन्हें प्राप्त करने का, उनके साथ अभिन्नता अनुभव करने का सुयोग मिलता है। इस दृष्टि से देखने पर मनुष्य की श्रेष्ठता अस्वीकार नहीं की जा सकती। यह मनुष्य इतनी दूर तक आगे जा सकता है कि भगवान् के साथ अभिन्नता तक की अनुभूति कर सकता है।

इसी दृष्टि से उपनिषदों ने मनुष्य को बड़ा ऊँचा स्थान दिया है। उपनिषद् में कहा है — "यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके, यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके, छायातपयोरिव ब्रह्मलोके।" इस नरलोक में आत्मा को किस प्रकार देखा जाता है ? दर्पण में प्रतिबिम्ब को जिस प्रकार देखा जाता है, उसी प्रकार निर्दोष रूप से। पितृलोक में स्वप्न में देखी गयी वस्तु की तरह उसे देखा जाता है। गन्धर्वलोक में जल पर पड़नेवाले प्रतिबिम्ब के समान उसका अनुभव होता है। केवल ब्रह्मलोक में उसका स्पष्ट रूप से

अनुभव होता है; जैसे अन्धकार और प्रकाश पृथक् पृथक् हैं, वैसे ही आत्मा भी वहाँ पर अनात्मा से पृथक् दिखलाई पड़ती है।

**नरजन्म और आत्मज्ञान**

ब्रह्मलोक वह स्थान है, जहाँ पर मनुष्य की शुद्धता देवताओं की शुद्धता को भी पीछे छोड़ देती है। वहाँ के लिए यही तुलना है। इससे यह बात समझ में आएगी कि मनुष्यलोक का स्थान कितना ऊँचा है तथा इस मनुष्य के भीतर उनका प्रकाश कितना स्पष्ट है। अतः मनुष्य में उनकी पूजा न करके जहाँ उनका प्रकाश अल्प है केवल वहीं उनकी पूजा करने से हमारी पूजा अपूर्ण रह जाती है। इसलिए सर्वत्र उनकी पूजा की दृष्टि लेकर हम काम करें। जब भी हम किसी की सेवा करेंगे, तब यह समझते हुए करें कि हमें सेवा करने का सौभाग्य मिला, इसीलिए सेवा कर पा रहे हैं। सेव्य को हम मानो अपने से ऊँचे आसन पर बिठाएँ और स्वयं को उनका सेवक मानें। तब कहीं हमारे कार्य त्रुटिहीन होंगे, मन भगवान् से दूर नहीं बहकेगा और कर्म हमारे लिए बन्धन का कारण न बन बन्धनमोचन का उपाय बनेंगे।

□ □ □

# १३. शिवनाथ आदि ब्राह्मभक्तों के संग में

(वचनामृत १।१४।१।२ : २८ अक्टूबर १८८२)

### प्राकृत मानव और जीवन का उद्देश्य

ठाकुर ब्राह्मभक्त वेणीमाधव पाल के उद्यानगृह में उनके उत्सव में सम्मिलित होने आये हैं। मास्टर महाशय ने इस घर का जो वर्णन किया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह वास्तव में एक साधनाक्षेत्र है। ठाकुर के आने की बात सुनकर भक्तगण विशेष रूप से आकर्षित हो वहाँ आये हैं। चारों ओर लोगों का मेला लगा है। ठाकुर ने हँसते हुए आकर आसन ग्रहण किया। यह जो वर्णन है, इसे विशेष रूप से ध्यान में रखने की आवश्यकता है। कल्पना कीजिए, उत्सव का आयोजन है, भीड़ उमड़ पड़ी है और उसके बीच आनन्दोद्भासित मुखमण्डल से युक्त ठाकुर हँसते हुए आते हैं और आसन ग्रहण करते हैं। भक्तगण स्थिरदृष्टि से उन्हें देख रहे हैं। कहना न होगा कि मास्टर महाशय ने मानो अपने मानसनेत्रों से ध्यान करते हुए इस दृश्य का वर्णन किया है। इसलिए हम भी मानो ध्यान करते हुए उस दृश्य को अपने मानसनेत्रों से देख पाते हैं।

ठाकुर ने कहा, "यह रहा शिवनाथ! देखो, तुम लोग भक्त हो, तुम लोगों को देखकर बड़ा आनन्द होता है। गँजेड़ी का स्वभाव ऐसा होता है कि वह दूसरे गँजेड़ी को देखकर बड़ा प्रसन्न होता है।"

ठाकुर कह रहे हैं कि भक्त को देखकर भक्त को आनन्द होता है, और इसी आकर्षण से ठाकुर का यहाँ आना हुआ है। यद्यपि ब्राह्मभक्त सनातनधर्म के विरोधी थे, फिर भी उनमें ऐसी कुछ आन्तरिकता थी, जो ठाकुर को आकृष्ट करती थी।

इसके पश्चात् ठाकुर कह रहे हैं, "जिनको देखता हूँ कि ईश्वर में मन नहीं है, उनसे मैं कहता हूँ – तुम लोग थोड़ा उधर जाकर बैठो, अथवा कहता हूँ कि जाओ, बिल्डिंग (रासमणि की कालीबाड़ी से संलग्न कोठी आदि) देखो जाकर।"

## प्राकृत मानव

हम जानते हैं कि जहाँ पर बहुत से लोगों का समागम होता है, वहाँ पर सभी एक ही मनोभाववाले नहीं होते। जो भगवद्भक्त हैं, वे तो ठाकुर के सान्निध्य में आकर, उनकी बातों को मनोयोगपूर्वक सुनते हुए आनन्द का अनुभव करेंगे; और जिनका मनोभाव ऐसा नहीं है, उन्हें स्वभावतः यह सब अच्छा नहीं लगेगा। अच्छा नहीं लगता यह बात हम चारों ओर आँखें घुमाकर देखने से ही समझ ले सकते हैं। असंख्य लोगों के बीच मुट्ठी भर लोग ही ऐसे होते हैं, जो भगवत्प्रसंग में आनन्द लेते हैं। बाकी लोगों के लिए तो वह अरुचि का कारण होता है। तुलसीदासजी का एक दोहा है – 'गली गली गोरस फिरै, बैठे सुरा बिकाय'। दूध को तो घर-घर में जाकर फेरी लगाते हुए बेचना पड़ता है, पर शराब के लिए फेरी नहीं लगानी पड़ती, एक जगह बैठने से ही वह बिक जाती है; जिसको जरूरत होती है, वह स्वयं आकर ले जाता है। जो कलकत्ते में रहते हैं, वे जानते हैं कि जिस रास्ते पर सिनेमा-थियेटर पड़ता है, उस रास्ते से चलना कितना मुश्किल रहता है। वहाँ सब समय भीड़ लगी ही रहती है। और भगवत्कथा सुनने के लिए भला कितने लोग आते हैं? कुछ लोग तो कौतूहलवश यह सोचकर आते हैं कि 'अच्छा, वहाँ इतने लोग क्यों इकट्ठे हुए हैं, जरा चलकर देखें तो।' और यदि देखा कि कीर्तन हो रहा है, तो कहते हैं, "अच्छा, कीर्तन चल रहा है! उसके बदले यदि कुछ मारपीट होती तो देखने में आनन्द आता!" ऐसा है मनुष्य का स्वभाव! लगता है भगवत्प्रसंग का आनन्द लेना साधारण मनुष्य के स्वभाव से बाहर की बात है। यदि कोई ऐसा करता है, तो वह सब के बीच उपहास का पात्र हो जाता है। हम लोग बचपन में जब बेलुड़ मठ आया-जाया करते थे, तब कई लोग छींटाकशी करते थे – "इस उमर में साधुओं के पास भला इतना आना-जाना क्यों? वहाँ क्या रखा है?" तो फिर क्या करना होगा? बचपन में लड़के खेल के मैदान पर जाते हैं – यह बात समझ में आती है। उम्र कुछ अधिक होने पर व्यक्ति ताश-पाशा खेलता है; यह बात भी समझ में आती है। पर यह बात समझ में नहीं आती कि जब वह बूढ़ा हो जाता है, तब भी सत्संग के लिए उसे समय नहीं मिलता, वह तब भी विषयों को लेकर मदहोश बना रहता है। जब

कुछ बूढ़े एक साथ बैठते हैं, तब वे आपस में जो चर्चा करते हैं, उसे सुनकर यह बात समझ में आ जाएगी कि वे अपने सारे जीवन भर जो करते आये हैं, अब बैठें बैठे उसी की जुगाली कर रहे हैं। यह बात बदलनी चाहिए। और वह बदल सकती है, यदि उसके लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया जाए। जगह-जगह भगवत्-चर्चा करने के लिए कोई स्थान निर्दिष्ट करके रखना चाहिए, जिससे दो-चार लोग होने पर भी वे वहाँ बैठकर सत्संग करके अपने भाव को और भी दृढ़ कर सकें। इन दो-चार लोगों को देखकर और भी कुछ लोग खिंचकर आएँगे। कई बार मैंने देखा है, हम लोगों में से ही कोई कहता है, "यहाँ तो अधिक लोग नहीं आते।" इसके उत्तर में दूसरा कहता है, "इसका एक उपाय है। आओ, हम लोग मारपीट करें। अभी भीड़ इकट्ठी हो जाएगी।" उद्देश्य है भगवत्-चर्चा के लिए लोगों को आकृष्ट करना। लेकिन अन्य कोई आकर्षण दिखाकर उन्हें भगवत्-चर्चा में लाने की कोई सार्थकता नहीं है। चाहे पाश्चात्य देशों में हो, चाहे यहाँ पर, देवस्थान में अधिक लोग नहीं होते, इसलिए माइक लगा देते हैं, और हो-हल्ला करते रहते हैं। कहीं सार्वजनिक उत्सव हो, तब तो फिर कुछ मत पूछो। मन की स्वाभाविक गति ही हो-हल्ला की ओर है, इसलिए लोगों को आकर्षित करने के लिए इस प्रकार किया जाता है। लेकिन यदि दो-चार लोग भी उच्च भाव लेकर रहें, तथा उनका वह भाव आन्तरिक हो, तो उसका प्रभाव अमोघ होगा। हमारी बहिर्मुखी दृष्टि प्रायः लोगों की संख्या देखकर अनुष्ठान की सफलता की परख करती हैं। कई बार लोग मुझसे पूछते हैं, "अच्छा, तुम लोगों के यहाँ कितने लोग आते हैं?" मैं कहता हूँ, "मैं कभी लोगों को नही गिनता। एक वातावरण का निर्माण करना ही हमारा काम है।"

### जीवन का उद्देश्य

शास्त्र कहते हैं कि बहुत से लोग इस ओर आकृष्ट नहीं होते। असंख्य लोग इस पृथ्वी पर आते हैं और 'जायस्व म्रियस्व' के चक्कर में पड़े रहते हैं। आते हैं, जन्म लेते हैं, सुख-दुःख आदि का भोग करते हैं और मर जाते हैं। जीवन एकदम उद्देश्यहीन, लक्ष्यहीन होता है। यदि किसी से पूछा जाए, "अच्छा, तुम्हारे जीवन का उद्देश्य क्या है?" तो वह कहेगा, "कैसा उद्देश्य?"

यह बात वह सोच भी नहीं सकता कि जीवन का कोई उद्देश्य है। जैसा कि बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने ठाकुर से कहा था — जीवन का उद्देश्य है आहार, निद्रा, आदि। इसके उत्तर में ठाकुर ने कहा, "सारा जीवन जिस तरह से बिता रहे हो, उसी की इस समय डकार उठ रही है।" निःसन्देह, बंकिमचन्द्र बुद्धिमान् थे। उन्होंने ठाकुर की इस भर्त्सना को सही ढंग से ही ग्रहण किया, वे असन्तुष्ट नहीं हुए, बल्कि अन्त में अत्यन्त नम्रता के साथ कहा, "नहीं महाराज, हम भी भगवान् का नाम लेते हैं।" बड़ी अच्छी बात है। लेकिन इस तरह से करने से काम नहीं चलेगा। दो-चार लोगों को तो इसे अपने जीवन का एकमात्र उद्देश्य बनाकर पड़े रहना होगा। केवल मठ-मन्दिरों में नहीं, बल्कि घर में कहीं पर भी यदि दो-चार लोग इस भाव को दृढ़ता से पकड़कर रहें, तो वहाँ पर धीरे धीरे एक वातावरण बनेगा। हर जगह अवश्य एक व्यक्ति ऐसा होगा, जो केन्द्र का प्राणस्वरूप होगा, जिसका चरित्र देखकर दूसरे लोग खिंचेंगे। इस प्रकार के छोटे छोटे केन्द्र यदि सब जगह फैल जाएँ, तो सर्वत्र एक अनुकूल वातावरण तैयार करना सम्भव होगा। बड़ी बड़ी सभा-समितियाँ बनाकर ऐसा वातावरण पैदा नहीं किया जा सकता, क्योंकि सभा-समितियाँ लोगों के कौतूहल को ही सन्तुष्ट करती हैं, वे जीवन को नहीं छू पातीं। इतनी सरलता से जीवन का स्पर्श नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह तो और भी गहरी चीज है। इसीलिए ठाकुर इन सब स्थानों में आते-जाते थे। वे ब्राह्मसमाज में जाते थे, यहाँ तक कि तान्त्रिकों के साधनाचक्र में भी जाते थे। उन दिनों के ज्ञानी-गुणीजनों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों के दर्शन के लिए भी वे स्वयं होकर गये थे। कालना के भगवानदास बाबाजी को देखने गये थे, महर्षि देवेन्द्रनाथ को देखने गये थे, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को देखने गये थे, शशधर तर्कचूड़ामणि को देखने गये थे, क्योंकि वे जानते थे कि इन विशिष्ट लोगों के भीतर यदि थोड़ासा ईश्वरीय भाव प्रविष्ट करा दिया जाए, तो बहुत से कार्य होंगे। वे स्वयं होकर उनके पास गये थे, क्योंकि गरज तो उन्हीं की अपनी अधिक थी। जिस कार्य के लिए उनका आगमन हुआ था, उस उद्देश्य को तो पूरा करना ही होगा। वे जानते थे कि यह सब कार्य 'माँ' की इच्छा से होगा; इसलिए उसकी भूमिका तैयार करने वे माँ के हाथों यन्त्रस्वरूप होकर

इस प्रकार घूमते फिरते थे।

## ठाकुर का आचरण और उसका उद्देश्य

इसके पश्चात् ठाकुर कह रहे हैं, "संसारी लोगों से यदि कहो कि सब कुछ त्यागकर ईश्वर के पादपद्मों में मग्न हो जाओ, तो वे कभी नहीं सुनेंगे।" ठाकुर जानते थे कि यदि एकदम शुद्ध भाव का ही प्रचार किया जाए, तो बहुत थोड़े लोग ही उसे ग्रहण कर सकेंगे। शास्त्र इसे जानते हैं, आचार्यगण भी इसे समझते हैं, और जो स्वयं अवतारीपुरुष हैं, वे भी इसे अच्छी तरह से जानते हैं। इसीलिए ठाकुर अपने भक्तों के साथ केवल भगवत्-चर्चा ही नहीं करते थे, विनोद की भी बातें करते थे। जो उनके सम्पर्क में आये थे, वे ही यह बात समझ सकते थे कि कैसे उनके अगाध स्नेह ने माता-पिता के स्नेह को भी तुच्छ कर दिया था। कितने प्रकार से वे उनको आकर्षित करते। किसी से कहते, "इसे तम्बाकू पिलाओ रे", किसी से कहते, "इसे कुछ खाने को दो", और किसी से कहते, "उसे गाड़ी का भाड़ा दे दो।" यहाँ तक कि वे जब अन्तिमशय्या पर थे, तब गिरीशबाबू को, जो उन्हें देखने गये थे, फगुवा की दुकान की कचौड़ी खिलाने के लिए कितने व्यग्र हो उठे थे। चल-फिर नहीं सकते थे, फिर भी किसी तरह सुराही से जल लेकर उन्हें पिलाने लगे! उन्हें यह सब करने की क्या आवश्यकता थी? आवश्यकता यह थी कि वे जानते थे, वे उन लोगों को यन्त्रस्वरूप बनाकर जा रहे हैं, जिससे उनके माध्यम से अनेक लोग उनके भाव को ग्रहण करने का अवसर पा सकें। इसीलिए उन्होंने इतना कष्ट उठाया, इतना त्याग जीवन में स्वीकार किया। हम सोचकर अवाक् हो जाते हैं कि कितने सुन्दर ढंग से प्रचारकार्य आगे बढ़ चला है। लगता है कि मानो इस सम्बन्ध में वे स्वयं भी अनभिज्ञ थे। 'अनभिज्ञ' थे इसलिए कहता हूँ कि वह तो उनके जीवन में श्वास-प्रश्वास के समान सहज था। इसी प्रकार उनके प्रत्येक कार्य के द्वारा सहज और स्वाभाविक रूप से लोककल्याण सम्पन्न होता था।

□ □ □

# १४. शिवनाथ आदि ब्राह्मभक्तों के संग में - २

(वचनामृत १।१४।६-७ : २८ अक्टूबर १८८२)

### स्वामी विवेकानन्द का यन्त्ररूप में गठन

श्रीरामकृष्ण सींथी के ब्राह्मसमाज में सम्मिलित ब्राह्मभक्तों के समक्ष भगवच्चर्चा कर रहे हैं। वे अक्सर कहा करते, "ज्ञानपथ बड़ा कठिन है।" पर कभी कभी हमने इसका अपवाद भी देखा है। उदाहरणार्थ, स्वामीजी को उन्होंने ज्ञानपथ का उपदेश दिया था। जिस प्रकार उनसे शक्ति को मनवा लिया था, उसी प्रकार उन्हें 'सभी ब्रह्म है' यह उपदेश भी दिया था। यह बात अलग है कि स्वामीजी ने वह बात स्वीकार नहीं की। उन्होंने उपहास करते हुए कहा, "लोटा ब्रह्म है, कटोरी ब्रह्म है!" ठाकुर थोड़ा मुसकराकर बोले, "बाद में समझेगा।" और सचमुच स्वामीजी के जीवन में बाद में ऐसा कुछ हो गया कि वे सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करने लगे। वर्णन आता है कि उनकी माँ उन्हें खाना परोस रही थीं। नरेन्द्र क्या देखते हैं कि भोजन, थाली, कटोरी सब ब्रह्म है। उन्हें सचमुच ऐसी अनूभूति हुई कि वे सर्वत्र ही ब्रह्मदर्शन करने लगे। उसके पश्चात् वे ठाकुर की बातों का प्रतिवाद नहीं कर पाते थे। हमने देखा है कि पहले यदि कोई विपरीत मत का भी पोषण करता, तो ठाकुर बाधा नहीं देते थे। इसीलिए नरेन्द्र ने जब 'माँ' (काली) को नहीं मानना चाहा, तो उन्होंने कोई आग्रह नहीं किया। बाद में जब नरेन्द्र ने 'माँ' को मान लिया, तब ठाकुर कितने आनन्दित हुए! कारण यह था कि नरेन्द्रनाथ को उन्होंने विशेष रूप से अपने एक पूर्ण यन्त्र के रूप में, आचार्य के रूप में तैयार किया था, जिनसे विभिन्न मनोवृत्तियों के लोग शिक्षा लें। तभी तो उनको विभिन्न भावों की शिक्षा देने के लिए ठाकुर कि इतनी चेष्टा थी। कहा जा सकता है कि एक छटाँक पानी से अगर प्यास बुझ जाए, तो समुद्र में कितना पानी है यह जानने की क्या आवश्यकता है? यह बात साधारण लोगों के लिए ठीक हो सकती है, पर नरेन्द्र को तो ठाकुर ने उस साधारण कोटि में नहीं रखा। इन सब आपातविरोधी

सिद्धान्तों में नरेन्द्र को निष्णात करके उन्होंने उन्हें एक अपूर्व यन्त्र के रूप में परिणत किया था, जहाँ से धर्म-समन्वय का सन्देश दिग्दिगान्तर में फैल गया था।

## ठाकुर की अहंकारशून्यता

इसके पश्चात् ठाकुर कहते हैं कि वेदों में जो सप्तभूमि की बात है, वह मन की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है। अनुभव से समझना होता है, युक्ति-तर्क के द्वारा समझ में नहीं आता। सप्तम भूमि पर मन के पहुँच जाने पर फिर शरीर की कोई क्रिया सम्भव नहीं होती। ठाकुर के जीवन में हम देखते हैं कि जब उनका मन इस सप्तम भूमि से नीचे नहीं उतरना चाह रहा था, तब दैवयोग से एक व्यक्ति उनके जीवन में आया, जो उनके मन को बलपूर्वक नीचे खींचकर किसी प्रकार उनको कुछ खिला देता था। इस अवस्था में वे लगभग छह महीने तक रहे। यह सही है कि साधारण लोगों के लिए इस अवस्था में अधिक दिन रहना सम्भव नहीं होता। हमारा शरीर यदि चैतन्य से अधिष्ठित न हो, तो उसके द्वारा कोई कार्य नहीं होता। यदि ऐसा है, तो फिर आचार्यों की अवस्था क्या है? ठाकुर कह रहे हैं कि उनमें एक 'विद्या का अहं' रहता है। शंकराचार्य आदि में थोड़ा 'विद्या का अहं' था, इसीलिए उनके द्वारा प्रचारकार्य सम्भव हुआ था। लेकिन अपने स्वयं के सम्बन्ध में बतलाते हुए ठाकुर कह रहे हैं कि "इसके भीतर 'मैं' बिलकुल नहीं है, केवल 'वे' हैं।" यह बहुत आश्चर्य की बात है। "मेरे थोड़ासा अहंकार है" यह बात उन्होंने नहीं कही। कहते हैं, "इसके भीतर और कुछ नहीं है, 'मैं' नहीं है, यहाँ 'वे' हैं" – अर्थात् इस शरीर के प्रति उनकी अहंबुद्धि नहीं है। उनका भाव है – उनका शरीर एक यन्त्र के समान है, जिसे जगन्माता नियन्त्रित करती हैं, चलाती हैं; प्रतिक्षण इस शरीर से जो भी क्रिया हो रही है, वह उन्हीं (जगन्माता) के द्वारा निष्पन्न हो रही है। यह जो देहाभिमानशून्यता है तथा स्वयं को जगन्माता के यन्त्ररूप में देखना है, यह केवल अवतारपुरुष के लिए ही सम्भव है।

## वेदोक्त सप्तभूमि

यहाँ जो सप्तभूमि की बात कही गयी, वह है मन के विभिन्न स्तर; जैसे क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र आदि। पहले मन की अवस्था पागलों जैसी होती

है। पागल वह है, जो वस्तु को एकदम उलटा देखता है, सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत्य देखता है। यह हुई 'क्षिप्त अवस्था'। 'मूढ़ अवस्था' में बुद्धि काम नहीं करती। इसके पश्चात् है 'विक्षिप्त अवस्था', इसमें मन की गति कभी सत्य की ओर होती है तो कभी मिथ्या की ओर; सामान्य दृष्टि से कहा जा सकता है कि कभी भगवान् की ओर तो कभी संसार की ओर। इसके बाद है 'एकाग्र अवस्था', इसमें मन को विषयों से समेटकर ध्येय वस्तु से जोड़ दिया जाता है। इससे कुछ ऊँची अवस्था का नाम है 'निरोध अवस्था', इसमें इन्द्रियवृत्तियाँ पूर्ण रूप से निरुद्ध हो जाती हैं। उसके बाद है 'स्वतः व्युत्थान', जो समाधि की अवस्था है; लेकिन इस अवस्था में भी मन में संस्कार का लेश रहने के कारण वह स्वयं ही समाधि से उतर आता है। इसके बाद और कुछ आगे जाने पर जो अवस्था होती है, उसका नाम है 'परतः व्युत्थान', इसमें मन नीचे नहीं उतरना चाहता, केवल कोई दूसरा व्यक्ति ही प्रयत्न करके उसे उतार सकता है। इस प्रकार विभिन्न भूमियों के साथ ठाकुर का परिचय हुआ है और वे हैं जगन्माता के एक अपूर्व यन्त्र।

इसके पश्चात् कह रहे हैं, "ब्रह्मज्ञानी की यह अवस्था बड़ी कठिन है। तुम लोगों के लिए भक्तिपथ बहुत अच्छा और सहज है।" यह बात उन्होंने क्यों कही, यह समझना कठिन है। लगता है इसलिए कही कि इस प्रकार व्यक्तित्व के लोप की अवस्था शायद सब लोग पसन्द न करें। ब्रह्म का अनुसरण करनेवाला ब्रह्मज्ञानी जो ब्रह्म की अवस्था प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है, वह भी अपनी अवश्यम्भावी मृत्यु की बात सोचकर शायद डर जाएगा। इसीलिए कह रहे हैं, "तुम लोगों के लिए भक्तिपथ बहुत अच्छा और सहज है।" अच्छा किसलिए है? इसलिए कि बहुत से लोगों के लिए इस पथ का अनुसरण करना सम्भव है। सामान्यजनों के लिए ज्ञानी के समान स्वयं के 'मैं' को एकदम विलीन कर देना सहज नहीं है।

### मथुर और उनकी भावावस्था

कामना का लेशमात्र रहने से समाधि तो दूर की बात है, किसी भी उच्च भावभूमि में रह पाना सम्भव नहीं है। जैसा कि मथुरबाबू के साथ हुआ था। मथुरबाबू ने भाव के लिए ठाकुर से प्रार्थना की। ठाकुर ने कहा, "वह

माँ की इच्छा होने से होगा।" बाद में जब सचमुच ही मथुरबाबू को भाव हुआ, तब वे इतना अधीर हो उठे कि ठाकुर से कहने लगे, "बाबा, तुम अपना भाव वापस ले लो, इस भाव की चपेट में मेरी सारी सम्पत्ति नष्ट हुई जा रही है, मैं किसी ओर मन नहीं लगा पा रहा हूँ।" सामान्य रूप से तनिक से भाव के उन्मेष से ही जब यह अवस्था हो गयी, तब कहीं यदि भाव ऐसे वेग से आए कि सारा मन ही लीन हो जाए, तब तो वह मनुष्य के लिए नितान्त असह्य बात हो जाएगी। इसीलिए कहा है – 'योगिनो बिभ्यति ह्यस्माद् अभये भयदर्शिनः' – योगीजन भी इस अभयस्वरूप को देखकर भय से सन्त्रस्त हो उठते हैं।

## याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद

याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कहते हैं – "न प्रेत्य संज्ञास्ति" – 'इसके उपरान्त यह अवस्था पार कर जाने पर कोई संज्ञा नहीं रह जाती।' संज्ञा कहने का अभिप्राय लिया है ज्ञान, तथा ज्ञान माने 'मैं' 'तुम' यह सब संसार का ज्ञान। यह सब लुप्त हो जाएगा, यह सुनकर मैत्रेयी घबरा गयीं और बोलीं, "यह अवस्था लेकर मैं क्या करूँगी? यह तो मुझे अच्छी नहीं लगती।" तब याज्ञवल्क्य ने समझाया, "संज्ञा का अर्थ यह नहीं कि वहाँ पहुँचकर तुम्हारी सत्ता ही लुप्त हो जाएगी। संज्ञा माने सांसारिक विषयों का ज्ञान – उसका लोप हो जाएगा।" उनके समझाने पर सम्भव है कि मैत्रेयी का भय दूर हो गया हो, लेकिन साधारण मनुष्य का यह भय कभी नहीं जाता। वह यदि सोचे कि उसका अहंभाव एकदम लुप्त हो जाएगा, तो भले ही वह अवस्था साधकों के लिए अत्यन्त काम्य हो, पर सामान्य मनुष्य उसे कभी नहीं चाहेगा। वह कहेगा – "जरूरत नहीं उस प्रकार की अवस्था की, मैं जैसा हूँ वैसा ही ठीक हूँ।" साधारण मन की ऐसी ही अवस्था होती है। इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं, "तुम लोगों का भक्तिपथ बहुत अच्छा और सहज है।" कहते हैं, "मुझसे एक व्यक्ति ने कहा था – महाराज, क्या आप मुझे समाधि सिखा सकते हैं?" सुनकर सब हँसते हैं। 'समाधि' का नाम सुनकर मनुष्य को एक प्रकार का आकर्षण होता है। वह सोचता है कि सीखकर यदि समाधिसुख का थोड़ा मजा ले लिया जाए तो क्या बुरा है? पाँच रुपये में समाधिवाली बात मैं कई बार

कह चुका हूँ। एक व्यक्ति नियमित रूप से समाधि बेचता था। दाम था पाँच रुपये। एक साथ कई लोगों को बैठाकर वह उनसे कहता -- इस प्रकार से सोचो। उसके बाद सम्मोहनविद्या का प्रयोग करते हुए वह उन लोगों को ऐसी अवस्था में पहुँचा देता, जिससे उन्हें लगता कि समाधि हो गयी। और यह समाधि बड़ी सुलभ थी। दाम था केवल पाँच रुपया। तभी तो एक ने ठाकुर से पूछा था, "महाराज, समाधि सिखा सकते हैं ?"

## ईश्वरीय भाव और अनुभूति

हम लोग भगवान् का लीलाकीर्तन करते हैं, उनको लेकर लीलाविलास की बात कहते हैं; परन्तु मनुष्य जब उनमें एकदम लीन हो जाता है, तब उन्हें लेकर वैसा लीलाविलास फिर सम्भव नहीं हो पाता। इसीलिए ठाकुर ने कहा था, "ईश्वर की ओर जितना बढ़ोगे, कर्मों का आडम्बर उतना ही कम हो जाएगा। यहाँ तक कि उनका नामगुणगान भी बन्द हो जाएगा।" भक्त को भी इस प्रकार की समाधि लग सकती है। तब उसके द्वारा बाहरी पूजा-पाठ, अनुष्ठान आदि सम्भव नहीं होता। ठाकुर कह रहे हैं कि इस अवस्था में वे तर्पण करने गये तो सही, पर कर नहीं पाये। बाद में हलधारी ने समझाया कि यह साधना का एक स्तर है, जहाँ पहुँचने पर मनुष्य की वैसी अवस्था हो जाती है।

इसके पश्चात् ठाकुर अवतारी पुरुषों के स्तर बतलाते हैं। समझाते हैं – अवतार उसे कहा जाता है, जिसमें शक्ति का विशेष प्रकाश हो। अवतार, सिद्ध और सिद्धों का सिद्ध – ऐसा भेद शक्ति के प्रकाश की अलग अलग मात्रा के कारण किया जाता है। भगवान् की शक्ति सब में पूर्ण रूप से है; पर उसके प्रकाश में तारतम्य है। यह बात हम व्यावहारिक जगत् से समझ सकते हैं। इसीलिए ठाकुर ने विद्यासागर के प्रश्न के उत्तर में कहा था – तुम्हारे भीतर ईश्वरीय शक्ति का अधिक प्रकाश है, तभी तो लोग तुम्हें देखने आते हैं। जो वस्तु अखण्ड है, उसे खण्ड खण्ड करके किसी जगह कम तो किसी जगह अधिक ऐसा नहीं किया जा सकता। एक रजकण तक में भगवान् की सत्ता परिपूर्ण मात्रा में विद्यमान है। केवल प्रकाश का अन्तर है। इसी से यह समझ में आता है कि कौन बद्ध है, कौन मुमुक्षु, कौन मुक्त है, कौन सिद्ध और कौन अवतार।

इसके पश्चात् लेक्चर देने की बात उठी। ठाकुर बोले, "एक बार मैंने केशव से कहा – तुम लोग किस प्रकार लेक्चर देते हो, मैं सुनूँगा।" केशव तो असाधारण वाग्मी थे; उन्होंने व्याख्यान दिया। ठाकुर कहते हैं, "सुनकर मुझे समाधि लग गयी।" उसमें उन्हें इतना आनन्द मिला। लेकिन साथ ही यह भी कहते हैं, "तुम लोग ईश्वर के ऐश्वर्य की बात इतनी क्यों कहते हो ? भगवान्, तुमने अमुक बनाया है, तमुक बनाया है; तुमने सुन्दर फूल बनाये हैं, तुमने आकाश बनाया है, – यह सब इतना क्यों ?" जो स्वयं ऐश्वर्य चाहते हैं, वे ही ईश्वर के ऐश्वर्य का इतना वर्णन करते हैं। जब तक ऐश्वर्य के प्रति हमारा मोह रहता है, तब तक भगवान् के ऐश्वर्य की ओर दृष्टि रहती है। लेकिन जितना ही हम उनके निकट पहुँचते हैं, उतनी ही उनसे घनिष्ठता होती जाती है। इसीलिए पहले-पहल भगवान् अनन्तशक्तिस्वरूप प्रतीत होते हैं, अन्त में वे ही अनन्तप्रेमस्वरूप हो जाते हैं। शान्त और दास्य में ऐश्वर्य का जो भाव रहता है, वह सख्य में कम हो जाता है और वात्सल्य में तो एकदम लुप्त ही हो जाता है। जिस प्रकार माँ सन्तान से किसी प्रकार की आशा नहीं करती, वह उसको केवल देती ही है, उसे उससे लेने का कुछ नहीं रहता, वैसा ही सम्बन्ध जब भगवान् से हो, तब समझना चाहिए कि हम उनकी ओर काफी बढ़ चुके हैं। सर्वोपरान्त है मधुरभाव; वहाँ प्रेम में व्यक्ति भगवान् के साथ सम्पूर्ण रूप से एकाकार हो जाता है और द्वैतभाव बिलकुल नहीं रह जाता।

इसके पश्चात् जन्मान्तर की बात निकली। एक व्यक्ति ने पूछा, "क्या आप जन्मान्तर मानते हैं ?" ठाकुर बोले, "हाँ, मैंने सुना है कि जन्मान्तर है। ईश्वर का कार्य हम क्षुद्र बुद्धि के द्वारा कैसे समझेंगे ? अनेक लोग कह गये हैं, इसलिए अविश्वास नहीं कर सकता।" भगवान् की लीला भला हम क्या समझेंगे ? भीष्मदेव की वह अन्तिम बात याद होगी – "भगवान् की लीला मैं कुछ भी न समझ सका। जो भगवान् संसार के रक्षक हैं, वे पाण्डवों के सारथि बनकर उनके साथ साथ घूम रहे हैं, फिर भी पाण्डवों के दुःखों का अन्त नहीं है !" तात्पर्य यह कि तुम लोग इसी जन्म में भगवान् की पर्याप्त लीला देख रहे हो; जब उसी को समझ नहीं पा रहे हो, तब जन्मान्तर की चिन्ता में दिमाग लड़ाने से क्या लाभ ! उसकी अपेक्षा यह सोचना अधिक अच्छा है कि किस

प्रकार इस जन्म में यह जीवन पूरी तरह से काम में लगाया जा सकता है। इस अनन्त जगत् का सब कुछ जानना तो सम्भव है नहीं, तब इतने सारे फालतू सिद्धान्त दिमाग में ठूँस लेने से क्या लाभ ? यह दुर्लभ मनुष्यजीवन मिला है, भगवान् की कथा सुनने का अवसर मिला है, हो सकता है कि उनके प्रति कुछ प्यार भी आया हो। ऐसी दशा में अब उनका चिन्तन करने की चेष्टा करनी होगी, उनमें डूब जाने की, उन्हें लेकर आनन्द करने की चेष्टा करनी होगी।

□ □ □

# १५. विजयकृष्ण गोस्वामी आदि के प्रति उपदेश

(वचनामृत १।१९।१-२ : १४ दिसम्बर १८८२)

### जन्मान्तरवाद और शास्त्र

दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर में श्रीयुत विजयकृष्ण गोस्वामी श्रीरामकृष्ण के दर्शन करने के लिए आये हुए हैं। वे इस समय साधारण ब्राह्मसमाज में वेतनभोगी आचार्य हैं, इसलिए उन्हें ब्राह्मसमाज के सिद्धान्तों को मानकर चलना पड़ता है। स्वाधीन चिन्तन की गुँजाइश कम ही है। लेकिन उन्होंने अपने भीतर परम वैष्णव अद्वैत गोस्वामी का जो भाव उत्तराधिकार के रूप में पाया है, वह अब उनके अन्तःकरण में विकसित हो रहा है। उनकी उस भक्ति, उस प्रेम के ऊपर जो परदा पड़ा था, वह श्रीरामकृष्ण के संस्पर्श में आकर धीरे धीरे हटता जा रहा है। वे ठाकुर के वचनामृत का आकण्ठ पान करते हैं और कभी कभी हरिप्रेम में मतवाले होकर ठाकुर के साथ बालकवत् नृत्य करते हैं। बातचीत के बीच एक भक्त बालक की बात निकली, जिसने गले में छूरी मारकर आत्महत्या कर ली थी। इस बात को सुनकर ठाकुर बोले, "ऐसा लगता है यह उसका अन्तिम जन्म था।" ठाकुर की यह बात विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य है। जन्मान्तर के सम्बन्ध में ठाकुर साधारणतया किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करते थे। किसी के पूछने पर कहते, "ऐसा सुना है" अथवा कहते, "शास्त्र में ऐसा है।" यहाँ कह रहे हैं, "पूर्वजन्म का संस्कार मानना पड़ता है।" यदि ऐसा न हो तो किसी किसी में जो बचपन से ही शुभ संस्कार देखा जाता है, वह कहाँ से आता है? उसने वह इस जीवन में तो अर्जित नहीं किया। अतएव कल्पना करनी होती है कि वह सब उसके पूर्वजन्म का अर्जित है। यहाँ पर दृष्टान्त के लिए ठाकुर एक कहानी बतला रहे हैं : एक व्यक्ति शवसाधना करने बैठा और अनेक प्रकार की विभीषिकाएँ देखने लगा। अन्त में उसे बाघ पकड़कर ले गया। पर एक दूसरा व्यक्ति, जो बाघ के भय से झाड़ के ऊपर चढ़कर बैठा था, नीचे उतरकर आया और शवसाधना की सारी

तैयारी देखकर शव के ऊपर बैठ साधना करने लगा। थोड़ासा जप करते ही माँ–काली प्रसन्न हो गयीं और उसे दर्शन दिया। उसने माँ से कहा, "माँ, तुम्हें पाने के लिए जिसने इतना आयोजन किया, उसका तो कुछ भी नहीं हुआ; पर मुझ पर, जिसने कुछ भी नहीं किया, तुम्हारी ऐसी कृपा हुई!" इस पर माँ बोलीं, "बेटा, तेरी यह साधना जन्मजन्मातर से चली आ रही है, आज उसके पूर्ण होने पर तुझे मेरा दर्शन मिला।" तात्पर्य यह कि पूर्वजन्म के संस्कारों के साथ मनुष्य का जन्म होता है। एक ही जन्म सब कुछ नहीं है। यदि एक ही जन्म में सब कुछ समाप्त हो जाता, तब तो 'कृतहानि–अकृताभ्यागम'–रूप दोष होता – अर्थात् एक व्यक्ति ने अनेक शुभ कर्म किये, लेकिन इस जन्म में उनका कोई फल नहीं देखा गया, पर दूसरा व्यक्ति बाल्यकाल से ही शुभ अथवा अशुभ कर्मफल का भोग करता है, जिसे उसने अर्जित नहीं किया है। 'अकृत' वह है जिसे उसने किया नहीं, पर उसका गुण या दोष आ गया। शास्त्रकार कहते हैं कि कर्मफल तनिक भी नष्ट नहीं होता, आगे के जन्मों में उसका भोग होता है। ठीक यही बात हम 'गीता' में पाते हैं। अर्जुन पूछता है कि यदि कोई साधना करते करते योगभ्रष्ट हो जाए अथवा सिद्धि के पूर्व ही उसकी मृत्य हो जाए, तब उसका क्या होता है? गीता कहती है कि उसने जो कुछ भी किया है, वह नष्ट नहीं होता – "न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति" – शुभ कर्म करनेवाले की कभी दुर्गति नहीं होती। अर्जुन का यह प्रश्न एक चिरन्तन प्रश्न है। 'योगाच्चलितमानसः' अर्थात् योग से किसी कारणवश जिसका मन हट गया हो, उसकी क्या अवस्था होगी? क्या वह फटे हुए बादलों की तरह दोनों ओर से भ्रष्ट होकर नष्ट हो जाएगा? पहाड़ पर जिन्होंने बादलों का खेल देखा है, वे जानते हैं कि फटे हुए बादलों की तरह नष्ट होना क्या है। एक मेघखण्ड आकर पहाड़ से टकराया और टकराकर जब ऊपर उठा, तो उसका एक टुकड़ा पहाड़ से ही चिपककर रह गया। वह टुकड़ा देखते ही देखते कुछ देर बाद गायब हो गया, अर्थात् न तो वह मेघों में स्थान पा सका और न ही पहाड़ में। तो क्या योगभ्रष्ट व्यक्ति इसी प्रकार इहकाल और परकाल दोनों से नष्ट हो जाएगा? शास्त्र का कहना है कि उसका कुछ भी नष्ट नहीं होगा। इस जीवन में उसने जो कुछ किया है, वह उसके लिए

आगामी जन्म में पाथेय बनेगा, जिसको लेकर वह आगामी जीवन प्रारम्भ करेगा। यही कारण है कि भिन्न भिन्न व्यक्ति भिन्न भिन्न संस्कार लेकर जन्म लेते हैं किसी के भीतर जन्म से ही भगवत्प्रेम होता है, तो कोई मलिन मन लेकर जन्म लेता है। यह जो शुद्धता अथवा मलिनता है, उसे तो उसने इस जन्म में अर्जित नहीं किया है। इसलिए समझना होगा कि इसके पीछे पूर्वजन्मों का संस्कार रहता है। अतएव 'अवश्यमेव भोक्तव्यम् कृतं कर्म शुभाशुभम्' – शुभ अथवा अशुभ जो भी कर्म किया गया है, उसका फल हम लोगों को भोगना ही पड़ेगा। यहाँ पर यह जो 'अवश्यमेव भोक्तव्यम्' कहा है, उसे हम अपने इस जीवन में न देख पाने के कारण सोचते हैं कि हो सकता है आगामी जन्मों में भी उसका फल न मिले। अनेक दुराचारी व्यक्ति जीवन भर दुष्कर्म करके भी मरते दम तक शान-शौकत का जीवन बिताते देखे जाते हैं। यह सब देखकर हम सोचते हैं कि उनके दुष्कर्मों का तो कोई भी परिणाम दिखाई नहीं दिया! शास्त्र कहता है कि मृत्यु के साथ साथ मात्र व्यक्ति के शरीर का परिवर्तन हुआ, किन्तु संस्कारों की पोटली तो ज्यों की त्यों रह गयी; परिणामस्वरूप किसी न किसी समय उसे अपने किये हुए कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा। इस प्रकार साधना की धारा आगामी जन्मों में भी चलती रहती है, भले ही व्यक्ति को उसका स्मरण नहीं रहता। तभी तो 'गीता' में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं –

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तब चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥

– 'तुम्हारे और मेरे अनेक जन्म हो चुके हैं; मैं वह सब जानता हूँ, लेकिन तुम नहीं जानते।' इस शास्त्रवाक्य को श्रद्धापूर्वक मान लेने के सिवा हमारे पास परीक्षा करने का कोई उपाय नहीं है। 'कृतहानि-अकृताभ्यागम'-रूप युक्ति के द्वारा जन्मान्तरवाद सिद्ध कर लेने पर भी उस पर मनुष्य का विश्वास टिकता नहीं। फिर भी इस सम्बन्ध में ठाकुर का अभिप्राय यह है कि जो जीवन अभी तुम्हारे हाथ में है, उसका उपयोग करो, अगला या बादवाला जन्म, जो पहुँच से बाहर है, उसके सम्बन्ध में दिमाग खपाने से क्या लाभ? जो जन्म तुम्हारे हाथ में है, उसका उपयोग करो, उसके पश्चात् यदि जन्मान्तर है तो उसका भी

उपयोग होगा, और यदि नहीं है तो भी कुछ नष्ट होनेवाला नहीं है।

### श्रीरामकृष्ण और बाइबिल का कथन

बाइबिल में एक कथा आती है। एक व्यक्ति ईसा से कहता है कि आप लेजारस को भेज दीजिए, उसके मुँह से जन्मान्तर होने की बात सुनकर लोग विश्वास करेंगे और धर्मपरायण होंगे। ईसा कहते हैं, "लेजारस के कहने से क्या वे लोग विश्वास कर लेंगे? क्या अनेकों 'प्रॉफेट' (मसीहा) अवतीर्ण होकर यह बात लोगों से नहीं कह गये हैं? फिर भी क्या लोगों ने उनकी बातों का विश्वास किया?"

### ठाकुर की उपमा और व्याख्या

अच्छा, माना कि जन्मान्तर है। अब शास्त्रों का कथन है कि आत्महत्या महापाप है, और इस महापाप के फलस्वरूप मनुष्य को बार बार जन्म लेना पड़ता है। इधर ठाकुर कह रहे हैं कि जो ज्ञानलाभ कर लेने के पश्चात् आत्महत्या करके शरीर त्यागता है, उसे यह पाप नहीं लगता। उपनिषद् में कहा गया है कि जो आत्महत्या करते हैं, वे एक दुःखमय अन्धकार से भरे लोक में जाते हैं, जिसे पुराण आदि 'नरक' कहकर पुकारते हैं। मनुष्य आत्महत्या कब करता है? तब, जब उसका शारीरिक या मानसिक क्लेश सहने की सीमा को पार कर जाता है। न सह सकने के कारण ही वह इस शरीर को सब दुःखों का मूल समझकर नष्ट कर देता है। अब यदि इस शरीर का नाश करके भी उसके दुःखों का अन्त न हो, तो इस शरीर का नाश करने में कोई सार्थकता नहीं है। इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं कि बार बार लौटकर आना होता है। अतएव आत्महत्या के बदले दृढ़तापूर्वक दुःख-कष्ट सहन करना ही उचित है। पर हाँ, ठाकुर कह रहे हैं कि जिनका इस शरीर का प्रयोजन सिद्ध हो चुका है, उनको आत्महत्या करके शरीर के त्यागने में पाप नहीं लगता। ठाकुर एक दूसरे स्थान पर उपमा देते हुए कहते हैं कि कुआँ खोदते हुए जब पानी का सोता मिल जाता है, तब कोई कोई कुआँ खोदने के कुदाल-फावड़ा आदि सारे औजार कुएँ में ही डाल देते हैं। इस शरीर के द्वारा भगवान् को पा लेना ही हमारा उद्देश्य है। अब जिसने इस देह-मन के माध्यम से भगवान् को पा लिया, उसके लिए इस शरीर का और कोई प्रयोजन नहीं रह

जाता। किन्तु भगवान् को पा लेने के बाद जिसके मन में लोककल्याण की कामना आती है, वह तापतप्त मनुष्यों को उस अमृत की खोज देने के लिए, कुआँ खोद लेने के बाद कुदाल-फावड़ा आदि सुरक्षित रख देने के समान अपने शरीर को बचाकर रखता है। लेकिन भगवान् को पा लेने के पहले जो आत्महत्या करता है, उसके लिए यह बड़ी ही दुर्भाग्यजनक बात है, क्योंकि तब भी उसके द्वारा अपने शरीर से भगवान् को पा लेना सम्भव हो सकता था। इस सम्भावना के रहते हुए अपने शरीर को इस प्रकार नष्ट करना उसके लिए अनुचित है, हानिकारक है – यही समझाने के लिए ठाकुर कह रहे हैं कि शरीर के प्रति इतनी तुच्छ बुद्धि रखना उचित नहीं है। यह शरीर भगवान् का मन्दिर है और इस मन्दिर में भगवान् की प्रतिष्ठा करना ही हमारा उद्देश्य है। इसलिए उसे स्वस्थ, सुन्दर और सबल रखना होगा। जो यह नहीं करता, वह अपनी दुर्बलता का ही परिचय देता है। उसकी यही दुर्बलता उसे अधिकाधिक कष्टप्रद अवस्था में ले जाती है। इसी को ठाकुर कहते हैं – 'बार बार लौटकर आना।'

यदि किसी के शरीर से हमारा पैर छू जाता है, तो हम उसे प्रणाम करते हैं। हम यह जो प्रणाम करते हैं, वह उस भगवान् को करते हैं जो इस देहरूपी मन्दिर में वास करते हैं। बड़े-बूढ़ों से लेकर बालक तक सब को इसी दृष्टि से देखना होगा, क्योंकि सभी का शरीर भगवान् का मन्दिर है। अतएव छोटे-बड़े का प्रश्न कहाँ है ? उन मन्दिरों में किसी के लिए विग्रह प्रकाशित है तो किसी के लिए अप्रकाशित। लेकिन सभी के लिए उस विग्रह के प्रकाशित होने की सम्भावना है। इसलिए जिस यन्त्र के द्वारा भगवान्-लाभ सम्भव हो, उसे तुच्छ नहीं समझना है, उसकी अवहेलना नहीं करनी है। इस दृष्टि से ही शास्त्र कहते हैं कि शरीर को नष्ट करना महापाप है। पाप और पुण्य की कसौटी यह है कि जो भगवान् की ओर ले जाने में सहायक हो वह पुण्य है और जो मनुष्य को भगवान् से दूर ले जाए वह पाप है।

## पुण्यकर्म की स्तुति

कभी कभी मनुष्य स्वर्ग जाने के लिए पुण्य करता है। एक तरह से यह भी मनुष्य के मन को शुद्ध करके भगवान् की ओर ले जाने में सहायक होता है। पर शास्त्र यह बतलाना नहीं भूलते कि स्वर्ग की ओर यह दृष्टि, स्वर्ग जाने

का यह आकर्षण भी हमारे लिए बन्धनकारक हो जाता है। जैसे विपुल ऐश्वर्य के बीच रहने से मनुष्य भगवान् को भूल जाता है, ठीक वैसे ही स्वर्ग के विपुल ऐश्वर्यभोग की ओर दृष्टि रहने से मन फिर भगवान की ओर नहीं जाता। फिर भी स्वर्गप्राप्ति के साधनस्वरूप जो शुभकर्म, उपासना आदि बातें हैं, वे मनुष्य के मन को धीरे धीरे शुद्ध करती हैं तथा इस शुद्धता के परिणामस्वरूप वह भगवान् की ओर थोड़ा अग्रसर होता है। इसीलिए शास्त्रों में पुण्यकर्मों की इतनी प्रशंसा की गयी है। लोभी मनुष्य का मन भोग के लिए लालायित रहेगा ही, पर यह लालसा कहीं उसे देहकेन्द्रित बनाकर अधोगामी न बना दे इसलिए शास्त्र में कहा गया है कि यदि तुम शास्त्रनिर्दिष्ट पथ पर बढ़ोगे, तो उससे तुम्हारा भोग का उद्देश्य भी पूरा होगा। इस शास्त्रनिर्दिष्ट पथ पर चलने से व्यक्ति अनेक प्रकार के संयम के बन्धन में बँध जाता है, जिससे फिर उसके लिए पशु के समान जीवनयापन सम्भव नहीं होता। इस प्रकार भोगलोलुप मनुष्य शास्त्रनिर्दिष्ट पथ पर चलकर स्वयं के न जानते हुए भी जो अपनी पशुसुलभ वृत्ति पर थोड़ासा अंकुश लगाने में समर्थ होता है, वह उसकी चित्तशुद्धि के पथ में पहला कदम है। इसके पश्चात् क्रमशः और भी कुछ शुद्ध होने पर शास्त्र उससे कहते हैं – उन लोगों की ओर दृष्टि न डालो; तुम निष्काम भाव से याग-यज्ञादि जो कुछ करते हो, करो। या फिर कहते हैं – भक्ति को ही सार समझकर उसे पाने की चेष्टा करो। अथवा कहते हैं – आत्मा को जानो। ये सब बातें यदि आरम्भ में ही कही होतीं, तो उससे कोई लाभ न होता।

## मानव की क्रमोन्नति

इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं, "जब कोई व्यक्ति पास आता है और दिखता है कि उसके भीतर प्रबल वासना है, तब उससे कहता हूँ – 'खा लो, पहन लो' " अर्थात् खाकर-पहनकर भोग कर लो। किन्तु साथ साथ वे यह भी कहते हैं, "पर जान रखो, यह सब कुछ भी नहीं है।" अर्थात् इसके द्वारा तुम लोगों का चरम उद्देश्य साधित नहीं होगा। यदि वे पहले ही भोग का निषेध कर देते तो कोई सुनता नहीं। वे लोग सोचते हैं कि जब ठाकुर ने भोग करने के लिए कहा है, तब खाने-पहनने और भोग करने में बाधा कहाँ है? बाधा कहीं

नहीं है। शास्त्र भी हमें बाधा नहीं देते। वे तो कहते हैं कि करो, लेकिन समझ लो कि 'निवृत्तिस्तु महाफला' – निवृत्ति ही सब से बड़ा फल है। भोग करना तो मनुष्य का स्वभाव है, वह बेचारा क्या करेगा ? मन चाहता है भोग। हम यदि कहें कि भोग मत करो, वह अनुचित है, तो वह सुनेगा नहीं। अतः उसे छोड़ देना पड़ता है कि थोड़ा भोग कर लो। लेकिन साथ साथ वे ख्याल करा दे रहे हैं, "जान लो, यह सब कुछ नहीं है।" विचारपूर्वक भोग करो। चारे में जब मछली फँसती है, तब वह डोर को खींचने लगती है। उस समय डोर को ढील दे देनी पड़ती है। पहले डोर को और ढील देते हुए, मछली के कुछ खा लेने के बाद, उसे खींचना पड़ता है, क्योंकि पहले ही डोर को खींचने से वह टूट जाएगा। इसलिए जो लोग प्रबल भोगपरायण होते, उन्हें ठाकुर भोग कर लेने के लिए कहते, लेकिन अन्त में यह भी कह देते – "लेकिन जान लो, कहीं कुछ नहीं है।" सम्भव है यह अन्तिम बात उस समय उन लोगों को याद न रहती हो, केवल पहली बात ही याद रहती हो। किन्तु ऐसा समय भी आता है, जब स्मरण होता है कि ठाकुर ने अन्त में जाने क्या एक बात कही थी। उस शुभ क्षण में ख्याल आता है – तभी तो ठाकुर ने कहा था कि 'कहीं कुछ नहीं है।' इसीलिए हम शास्त्रों में भी देखते हैं कि वहाँ व्यक्ति के मन की आकांक्षा के अनुसार ही उसे उपदेश दिया गया है। जो पुत्र की कामना करता है, उसके लिए पुत्रेष्टि यज्ञ का विधान है; जो विपुल अन्न उत्पादन करना चाहता है, उसके लिए कारीरी यज्ञ का उपदेश दिया गया है; यहाँ तक कि जो शत्रु के विनाश के लिए व्याकुल है, उसको भी श्येन यज्ञ के द्वारा शत्रुनाश का उपाय बताया गया है। बहिरंग दृष्टि से देखने पर लगेगा कि शास्त्र इस प्रकार के असत् कर्मों में भला हमें क्यों प्रवृत्त करते हैं ? उत्तर यह है कि प्रवृत्त नहीं करते, मनुष्य स्वयं ही प्रवृत्त होता है। शास्त्र उसके भोगप्रवण मन को थोड़ासा शास्त्रोन्मुखी करने की चेष्टा मात्र करते हैं। शास्त्र यदि केवल उच्चतम आदर्श की ही बात कहते, तब तो वह मुट्ठी भर लोगों के लिए ही होता और अधिकांश लोगों को शास्त्रधर्म छोड़कर ही चलना पड़ता। शास्त्रों ने हम सब लोगों की इस आवश्यकता को समझा है, और इसीलिए जिसका जैसा मन है उसके लिए तदनुरूप उपयोगी बनाकर उपदेश दिया है।

## ईसा का उपदेश

एक भक्त ने ईसा के पास आकर कहा, "मैं भगवान् के पथ पर चलना चाहता हूँ, क्या करूँ ?" ईसा ने उससे कहा, "तुम अमुक अमुक करो।" वह बोला, 'मैं तो यह सब पहले से ही करता आ रहा हूँ। मैं अपनी आय का एक दशमांश दान करता हूँ तथा अन्य नियमों का भी पालन करता हूँ।" तब ईसा बोले, "Then leave all and follow me" (तो फिर सब छोड़कर मेरे साथ चलो)। यहाँ ध्यान रखने योग्य बात यह है कि वे सब को अपने साथ चलने के लिए प्रारम्भ से नहीं कहते, क्योंकि वैसा करने से सब आएँगे भी नहीं, दो-चार लोग ही सम्भवतः उनकी पुकार सुनेंगे, बाकी सब तो अपने अपने रास्ते चलेंगे। इसीलिए उन्हें उन लोगों का रोग अच्छा करना होगा, मरे हुए को जिलाना होगा, जल के ऊपर पैर रखकर चलना होगा। बाइबिल पढ़ने से लगेगा कि सारा चमत्कारों से भरा है। तो क्या ईसामसीह को और कोई काम नहीं था, जो इस प्रकार बाजीगर की तरह चमत्कार दिखाते हुए घूमते रहते थे ? उनके यह सब करने का कारण यह था कि वे देखना चाहते थे कि जिनके लिए उनका आगमन हुआ है, वे लोग उन्हें किस प्रकार जान सकेंगे, कैसे उनका अनुसरण कर सकेंगे, कहाँ तक चल सकेंगे।

## उपदेश में वैचित्र्य

इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं – जो जैसा है, उसे वैसा ही उपदेश देना होगा। हमारे शास्त्र ठीक ऐसा ही करते हैं। फिर भी जब हम बुद्धि की सहायता से शास्त्रविचार करते हैं, तब यह देखकर चकरा जाते हैं कि जिस शास्त्र में उच्चतम आध्यात्मिक तत्त्व की बातें हैं, उसी में फिर दूसरे स्थान पर अत्यन्त निम्न स्तर के नियम-आचार भी हैं। इसका कारण यह है कि समाज ही इस प्रकार का है। इस समाज में ही कितने प्रकार के लोग हैं। इस विचित्रता के कारण ही उपदेश में भी विचित्रता आवश्यक हो जाती है। जो जहाँ पर है, उसे वहीं से एक एक कदम आगे बढ़ाना होगा। इसीलिए हम देखते हैं कि वेद आदि शास्त्रों में जहाँ एक ओर चरम लक्ष्य की बातें हैं, वहीं दूसरी ओर अत्यन्त अनुन्नत लोगों के ग्रहण करने योग्य उपदेश भी हैं। फिर, ये दूसरे प्रकार

के उपदेश ही अधिक हैं, क्योंकि संख्या तो इन्हीं लोगों की अधिक है। इस बात को सामने रखकर शास्त्र को समझना होगा।

अब यह जो आत्महत्या है, देह को नष्ट कर डालना है, यह जनसाधारण के लिए अत्यन्त अनुचित बात है, क्योंकि उस देह के द्वारा अब तक जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ है। लेकिन भगवान् को प्राप्त कर लेने के बाद शरीर का फिर कोई प्रयोजन नहीं रह जाता; तब वह रहे या न रहे, इससे कुछ आता-जाता नहीं। यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि कम से कम दूसरों के कल्याण के लिए तो शरीर का रखना उचित है! इसका उत्तर यह है कि कल्याण करने की आकांक्षा सभी के मन में नहीं रहती, और उसकी आवश्यकता भी नहीं है; क्योंकि तब साधक सब के भीतर उस एक ईश्वर को ही देखता है, फिर कौन किससे कहे? जिस भूमिका पर पहुँचने से इस प्रकार का अनुभव होता है, वहाँ रहकर उपदेश देना फिर बनता भी नहीं। लेकिन ठाकुर कहते हैं कि किसी के भीतर भगवान् कुछ 'विद्या का अहं' रख देते हैं।

एक स्थान पर ठाकुर कह रहे हैं, "अच्छा, मेरे अहंकार है क्या?" मास्टर महाशय उत्तर में कहते हैं, "जी, आपने लोककल्याण के लिए थोड़ासा रख दिया है – लोगों को आत्मज्ञान, भगवान् की बात सुनाने के लिए।" इस पर ठाकुर कहते हैं, "नहीं, मैंने नहीं रखा है, उन्होंने ही रख दिया है।" यह विशेष रूप से मनन करने योग्य बात है। जो उनके हाथ का यन्त्र है, उसे वे रख भी सकते हैं और आवश्यकता न होने पर छोड़ भी सकते हैं। जब मेरा प्रयोजन सध जाएगा, तब शरीर बना रहेगा या नष्ट होगा यह अपने प्रयोजन के अनुसार वे ही समझेंगे। अतः जो भगवान् को प्राप्त कर चुके हैं, वे अपने तईं यह निर्णय लेने की आवश्यकता नहीं समझते कि उनका शरीर रहेगा या जाएगा। जो इसके पीछे सर्वनियन्ता विद्यमान हैं, उनकी इच्छा के अनुसार जो होना है होगा। जो व्यक्ति पूर्णकाम हो गया, उसे फिर इन सब बातों का विचार नहीं रह जाता।

□ □ □

# १६. विजयकृष्ण गोस्वामी आदि के प्रति उपदेश - २

(वचनामृत १।१९।२-३ : १४ दिसम्बर १८८२)

**बद्धजीव**

दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर में विजयकृष्ण गोस्वामी इत्यादि भक्तों के साथ ठाकुर का अविराम भगवत्प्रसंग चल रहा है। ठाकुर जीवों के चार प्रकार के लक्षण बतलाते हैं — बद्धजीव, मुमुक्षुजीव, मुक्तजीव और नित्यजीव।

बद्धजीवों को तो हम चारों ओर देख ही रहे हैं। ठाकुर उपमा देते हैं, जैसे जाल के भीतर पड़ी हुई मछली कीचड़ में मुँह गड़ाकर पड़ी रहती है। ऐसा लगता है कि इस प्रकार वह अपने को सुरक्षित समझती है। वह नहीं जानती कि मछुआरा उसे खींच लेगा और वह मारी जाएगी। वह एक अवश्यम्भावी घटना के प्रति सचेत नहीं है। यह 'बद्धजीव' का लक्षण हुआ। इसीलिए 'महाभारत' में इसे एक आश्चर्य कहा गया है —

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

प्रतिदिन मनुष्य मृत्यु के मुख का ग्रास बन रहा है, परन्तु फिर भी उसे होश नहीं है। वह सोचता है, जिसे मरना है वही मरेगा, मैं तो ठीक बना रहूँगा। बद्धजीव को बन्धन के प्रति कोई होश नहीं रहता। वह कसकर बँधा हुआ है, इसका उसे ख्याल नहीं। इसीलिए मनुष्य योजनाएँ बनाता है, कल्पनाएँ करता है — 'यह करूँगा, वह करूँगा', लेकिन यह नहीं सोचता कि आज ही यदि बुलावा आ जाए तो सब छोड़कर चले जाना होगा। ठाकुर बतला रहे हैं, हृदय ने दक्षिणेश्वर में एक छोटे से बछड़े को घास खिलाने के लिए खूँटे से बाँध रखा था। ठाकुर के पूछने पर उसने कहा कि बछड़ा बड़ा होने पर उसे गाँव भेज दूँगा और उससे हल चलवाऊँगा। ठाकुर तो यह सुनकर मूर्छित ही हो गये। इतना छोटासा तो बछड़ा, वह कब बड़ा होगा, उसके बाद उसे इतनी दूर शिहड़ गाँव भेजेगा और वहाँ उससे हल चलवाएगा!

हम लोग इससे भी बड़ी बड़ी कल्पनाएँ करते हैं और सोचते हैं कि हम चिरकाल तक जीवित रहते हुए उन कल्पनाओं को साकार करके उनके फल का भोग करेंगे। लेकिन ध्यान रखें, यहाँ राष्ट्रीय योजनाओं की बात मैं नहीं कर रहा हूँ, व्यक्तिगत योजना की ही बात कर रहा हूँ। यहाँ प्रश्न उठता है, तब फिर क्या हम योजना न बनाएँ? लेकिन ठाकुर ऐसा नहीं कहते। योजना हम अवश्य बनाएँ, लेकिन उसके साथ साथ यह भी विचार करें कि जितना हम कर सकेंगे करेंगे, और उसके पश्चात् हमारे पीछे जो आएँगे, वे लोग करेंगे। यहाँ से चले जाने के लिए हमें सदा तैयार रहना होगा। इस प्रकार विचारपूर्वक यदि योजना बनायी जाए तो दोष नहीं है। पर जब तक निःस्वार्थ भाव नहीं आता, तब तक ऐसा विचार भी नहीं आता। हमारा मन यदि स्वार्थ से भरा रहे तो ऐसी योजना हमारे मस्तिष्क में कभी आएगी ही नहीं जिसका फलभोग हम न करें। बद्धजीव के मस्तिष्क में ऐसा विचार कभी नहीं आता कि मैं दो दिन के लिए इस दुनिया में आया हूँ और जिस क्षण बुलावा आएगा, मुझे सब छोड़कर चले जाना होगा। उलटे उसके व्यवहार को देखकर तो ऐसा लगता है – वह ऐसा पक्का बन्दोबस्त करके इस दुनिया में आया है कि उसे कभी यहाँ से जाना ही नहीं पड़े।

## मुमुक्षुजीव और मुक्तजीव

मुमुक्षुजीव बन्धन के सम्बन्ध में सचेत रहता है; उसे बन्धन का अनुभव है, बन्धन की पीड़ा है, इसीलिए उस बन्धन से वह मुक्ति पाने की चेष्टा करता है। लेकिन ऐसी बात नहीं कि मुक्ति के लिए सचेष्ट सभी लोग मुक्त हो जाते हों। ठाकुर उपमा देते हुए कहते हैं कि जो मछलियाँ जाल से छूटने के लिए छटपटाती हैं, वे सभी जाल से बाहर नहीं जा पातीं। उनमें से दो-चार ही छपाक् से कूदकर भागती हैं। ऐसे ही जो महामाया के जाल से किसी तरह निकल आते हैं, वे मुक्तजीव हैं।

## नित्यजीव

इसके अतिरिक्त और भी एक प्रकार के जीव की बात ठाकुर कहते थे, जिसे 'नित्यजीव' कहा जाता है। सयानी मछली जिस तरह कभी भी जाल में नहीं फँसती, ये भी उसी प्रकार महामाया के बन्धन में कभी नहीं बँधते। ये भी

सब लोगों की तरह संसार में आते हैं, लेकिन बुद्धि के थोड़ा विकसित होते ही समझ लेते हैं कि वे इस दुनिया के जीव नहीं हैं। ठाकुर ने इस नित्यजीव की कोटि में अपने लीलासहचरों को रखा था, जिनका इस संसार में आगमन किसी वासना के फलस्वरूप नहीं होता बल्कि जो अवतार आदि के लीलासहचर होकर लोककल्याण के लिए आते हैं। ठाकुर यहाँ नारद का दृष्टान्त देते हैं। नारद के जीवन में बचपन से ही प्रबल वैराग्य देखा जाता है — जब वे पाँच वर्ष के थे तब से ही। संसार में एकमात्र बन्धन थी माँ, जो ब्राह्मणों के घर दासी का काम करके जीवननिर्वाह करती थी, अपने बेटे का पालन-पोषण करती थी। उस माँ की जब सर्पदंश से मृत्यु हो गयी तब नारद की उम्र लगभग पाँच वर्ष की थी। बहिरंग दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है मानो यह उस बालक के दुर्भाग्य का सूचक है, लेकिन नारद कहते हैं कि उनका जो थोड़ासा बन्धन था, वह भी माँ की मृत्यु से कट गया, और वे साधना के लिए निकल पड़े। घूमते-फिरते बहुत दूर पहुँचकर वे एक वृक्ष के नीचे ध्यान में बैठे। वे तो ऐसे मन को लेकर ध्यान करने बैठे थे, जो कभी संसार में लिप्त नहीं हुआ था। ध्यान करते करते उन्हें भगवान् के साक्षात् दर्शन मिले। पर कुछ क्षण बाद भगवान् अन्तर्धान हो गये। इससे वे अत्यन्त व्याकुल होकर रोने लगे, और कहने लगे, "भगवन्, तुम दर्शन देकर फिर अन्तर्धान क्यों हो गये?" तब उन्हें दैववाणी सुनाई पड़ी — "नारद, तुमने यह जो एक बार दर्शन पाया, वही तुम्हारे इस जीवन के लिए पर्याप्त है। मेरा दर्शन तुम अब और नहीं पाओगे, लेकिन मेरा यह एक ही दर्शन तुम्हारे समस्त जीवन को परिपूर्ण बनाए रखेगा। अब तुम मेरे गुणों का गान करते हुए सारी दुनिया में विचरण करो।" कहना न होगा कि इस प्रकार की भक्ति की शिक्षा देने के लिए ही नारद को शरीरधारण करना पड़ा था। एकमात्र लोककल्याण को छोड़ नारद का संसार में आने का अन्य कोई उद्देश्य नहीं था। यह हुआ नित्यजीव का लक्षण।

बद्धजीव तो संसार में सब से सुलभ हैं — चारों ओर वे ही दिखाई देते हैं। मुमुक्षुजीव अपेक्षाकृत बिरले हैं, पर खोजने पर कहीं न कहीं दिखाई पड़ जाते हैं। किन्तु मुक्तजीव को देख पाना कठिन है। नित्यजीव दुर्लभ ही नहीं अपितु उन्हें देखकर भी लोग उन्हें पहचान नहीं पाते।

## बद्धजीव का लक्षण

इसके पश्चात् बद्धजीव का वर्णन करते हुए ठाकुर हमारे सामने एक भयावह चित्र खींच देते हैं। कहते हैं, "ऊँट कटीली घास खाना बड़ा पसन्द करता है। लेकिन वह जितना ही खाता है, उतना ही उसके मुँह से धर-धर रक्त बहता रहता है। फिर भी वह कटीली घास खाना नहीं छोड़ता।" हम देखते हैं कि इस संसार में मनुष्यों के दुःखों का अन्त नहीं है। जो बाहर से हमें सुखी दिखाई देते हैं, उनके भीतर पैठकर यदि देखा जाए तो हम पाएँगे कि वे दुःख से भरे हैं। भगवान् गीता में कहते हैं – 'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्' – इस अनित्य जगत् में दुःखों से छुटकारा नहीं है, इसलिए अनित्य वस्तु के प्रति आसक्ति को त्यागकर मेरा भजन करो। जैसे मुख से रक्त बह रहा है, फिर भी ऊँट कटीली घास खाना नहीं छोड़ता, वैसे ही मनुष्य भी संसार में इतना दुःख पाते हुए भी संसार में ही डूबा रहना चाहता है। जब कष्ट पाता है तब हो सकता है कि थोड़ी देर के लिए उसे संसार अच्छा न लगे और वह उसे छोड़ देने की इच्छा करे, पर बन्धन से वह इस प्रकार जकड़ा हुआ है कि किसी प्रकार उसे छोड़ नहीं पाता। केशव सेन के एक सम्बन्धी को, जिनकी आयु लगभग पचास वर्ष की रही होगी, ताश खेलते देखकर ठाकुर अवाक् रह गये, पर हम लोग यह दृश्य देखकर अवाक् नहीं होते, क्योंकि ऐसा तो हम हमेशा ही अपने चारों ओर देखते हैं। यह बद्धजीव की अवस्था है, जो उस मछुआरिन के समान है जो मछली की गन्ध के बिना नींद नहीं ले पाती और फूलों की सुगन्ध में असुविधा का अनुभव करती है।

## बद्धजीव की मुक्ति के उपाय

प्रश्न उठता है कि बद्धजीव के मन की अवस्था कैसी हो जिससे उसकी मुक्ति हो सके? ठाकुर इसके उत्तर में कहते हैं, "ईश्वर की कृपा से तीव्र वैराग्य होने पर इस काम-कांचन से आसक्ति दूर हो सकती है। तीव्र वैराग्य किसे कहते हैं? 'हो रहा है, हो जाएगा, भगवान् का नाम लेते रहो' – यह सब मन्द वैराग्य है। जिन्हें तीव्र वैराग्य होता है, उनके मन-प्राण भगवान् के लिए व्याकुल हो उठते हैं, जैसे माँ के प्राण अपने बच्चे के लिए व्याकुल होते हैं।" इस मन्द वैराग्य के कारण बहुत से साधक सिद्धिलाभ से वंचित रहते हैं। साधक

पहले-पहल खूब जमकर शुरू करते हैं। सोचते हैं कि दो दिन में ही भगवान् को पा लेंगे। लेकिन जब देखते हैं कि दिन पर दिन मन के साथ कठोर संग्राम करने पर भी वे जीत नहीं पा रहे हैं, तब उन्हें लगता है कि भगवान् को पाना उतना सरल नहीं है, जितना उन्होंने समझ रखा था। और ऐसा बोध उनमें हताशा पैदा करता है। यह हताशा साधक के जीवन में बड़ी दुश्मन है। 'भगवान् को प्राप्त नहीं कर पा रहा हूँ' ऐसी वेदना का अनुभव करना अच्छा है, लेकिन खराबी तब आती है जब इस दुःख की अनुभूति से हताशा जन्म ले लेती है और साधक के मनोबल को तोड़कर उसकी साधना को खण्डित कर देती है। शास्त्र में इस स्थिति को 'प्रमाद-आलस्य' के नाम से पुकारा गया है। प्रमाद का तात्पर्य है अनवधानता अर्थात् लक्ष्य के सम्बन्ध में अचेतनता और यदि चेतना हो भी तो मार्ग में ऐसा आलस्य उपस्थित होता है कि वह और आगे नहीं बढ़ पाता। शास्त्रों ने व्यर्थ ही यह बात नहीं कही कि 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत् कवयो वदन्ति' — तेज छूरे की धार पर चलना जैसा कठिन है, वैसा ही कठिन है ईश्वर को पाने का मार्ग। साधारण मनुष्य के लिए यह मानो असम्भव है। लेकिन इस असम्भव को ही सम्भव करना होगा, क्योंकि इसे छोड़कर ईश्वर को पाने का कोई अन्य मार्ग नहीं है। पर मनुष्य स्वभाव से ही ऐसा है कि वह सदा सब से सहज पथ की खोज में रहता है, और इस प्रकार खोजने पर जो पथ उसे सब से सरल मालूम होता है उसी से चलने लगता है। चलते चलते उसकी समझ में आ जाता है कि मार्ग बिलकुल ही सरल नहीं है। कई बार मनुष्य को प्रोत्साहित करने के लिए कहा जाता है, "यह करो तो हो जाएगा। एक बार पुकारकर तो देखो, इसी से हो जाएगा।" लेकिन एक बार क्यों, दस बार, हजार बार गला फाड़कर पुकारने से भी जब उसे काम बनता हुआ नहीं दिखाई देता, तब उसमें सन्देह पैदा होता है। पर एक ओर जैसे सन्देह पैदा होता है, वैसे ही दूसरी ओर एक प्रकार से आकर्षण का भी वह अनुभव करता है। तब साधक का चित्त इस आकर्षण और सन्देह के झूले में झूलने लगता है। इस सम्बन्ध में झूठी सान्त्वना देने का कोई मतलब नहीं कि ऐसा एक सहज पथ है, जिससे चलकर भगवान् को अनायास पाया जा सकता है, क्योंकि ऐसा कोई पथ है ही नहीं। यहाँ पर गिरीशबाबू का ही दृष्टान्त लेते

हैं। उनसे ठाकुर ने कहा, "देखो, और कुछ न कर सको तो दिन में दो बार उनका नाम लेना।" किन्तु दिन में दो बार तो दूर रहा, एक बार नाम लेने में भी गिरीशबाबू को राजी न होते देख ठाकुर भावावस्था में बोले, "यह भी न कर सको तो मुझे बकलमा दे दो" – अर्थात् अपना भार मुझे सौंप दो। गिरीशबाबू भगवान् को पाने का इतना सहज पथ पाकर निश्चिन्त हो गये। लेकिन इसके पश्चात् एक दिन प्रसंग उठने पर जब गिरीशबाबू ने कहा कि "मुझे अमुक जगह जाना है, अमुक काम करना है", तब ठाकुर बोले, "यह क्या जी, तुमने तो मुझे बकलमा दे दिया है न ? फिर यह करूँगा, वह करूँगा, ऐसा क्यों कहते हो ?" तब गिरीशबाबू समझ गये कि खण्ड-खण्ड में विभाजन करके भार देना नहीं बनता। जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने समझा था कि बकलमा देना कितनी कठिन बात है। वे कहते, "हर पग रखते हुए, हर साँस लेते हुए देखना चाहिए कि मैं ईश्वर को भार सौंपकर उसकी शक्ति से पग रख रहा हूँ, साँस ले रहा हूँ अथवा इस कुलक्षण अहंकार की शक्ति से।" तब गिरीशबाबू ने सोचा कि इससे तो रोज एक हजार बार नाम जपने की बात भी स्वीकार कर लेना अच्छा था।

### नाममाहात्म्य

शास्त्रों में कहा गया है, भगवान् का नाम कोई "हेलया श्रद्धया वा" – अनादरपूर्वक ले या श्रद्धापूर्वक – उसका कल्याण होगा ही। इस आश्वासनवाणी का भरोसा पाकर मनुष्य सोचता है कि भगवान् का नाम अधिक नहीं पर एकाध बार तो लेना चाहिए। अधिक समय नष्ट न होने से मतलब। पर उपर्युक्त बात कहकर शास्त्र कहते हैं, "नाम तो लेते हो, लेकिन नाम किस प्रकार लिया जाता है यह जानते हो तो ? नाम के साथ मन को एकाग्र करना चाहिए। तुममें एकाग्रता है न ?" बाप रे ! एकाग्रता ! वह तो कठिन बात है ! उसके बदले एक हजार के स्थान पर दस हजार बार नाम जप लेंगे, पर पाँच मिनट के लिए भी एकाग्रता लाना कठिन बात है। स्वामी विवेकानन्द गा रहे थे – "साधन-भजन उनका करो रे निरन्तर"। यह सुनकर ठाकुर विनोद करते हुए बोल उठे – "जो करेगा नहीं, वह कहता क्यों है ? ऐसा कह – साधन-भजन उनका करो रे दिन में दो बार"। तात्पर्य यह कि इस

प्रकार से भगवान् के साथ कोई समझौता नहीं होता कि हम उनका दो बार नाम लेंगे और वे बदले में हमारा सब काम कर देंगे। भगवान् कहते हैं — "मैं योगक्षेम वहन करता हूँ" — अर्थात् जिसे जो लगता है वह देता हूँ और जिसके जो है उसकी रक्षा करता हूँ। तब तो भगवान् का भक्त होने में बड़ा लाभ है। हमें जो लगे उसका वे जुगाड़ कर देंगे और जो हमारे पास है उसकी रक्षा करने के लिए पहरा देंगे। पर वे अपनी उपर्युक्त बात के साथ एक बात और जोड़ देते हैं, जो हमारे ध्यान में नहीं रहती। कहते हैं — "अनन्याश्चिन्तयन्तः" — जो अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करता है, "तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्" — ऐसे मेरे साथ नित्ययुक्त लोगों का मैं योगक्षेम वहन करता हूँ। योगक्षेम की बात से खिंचकर हम उनकी ओर आ तो जाते हैं परन्तु उनकी शर्त को सुनकर कह उठते हैं — "प्रभो, त्राहि माम्! त्राहि माम्! न तुम्हारा योग चाहिए और न क्षेम ही!"

वास्तव में हम चाहते हैं path of least resistance — न्यूनतम बाधावाला रास्ता। पर भगवान् को पाने का ऐसा कोई मार्ग नहीं है। उलटे हर मार्ग में विपत्ति का ढेर है, जहाँ पग-पग पर परीक्षा है। जिन गोपियों ने भगवान् को सर्वस्वसमर्पण कर दिया, उन्हें भी ऐसी परीक्षा देनी पड़ी थी और परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ा था; तब कहीं उन्हें भगवान् की कृपा मिली।

## त्याग और व्याकुलता

गोपियाँ घर छोड़कर, आत्मीय-स्वजन, पति-पुत्र सब छोड़कर पागलों की तरह भगवान् के चरणों में दौड़ आती हैं और इधर भगवान् कहते हैं — "तुम आयी, अच्छा किया, कहो, तुम लोगों के लिए मुझे क्या करना है?" मानो वे सब एकदम अपरिचित हों। अँगरेजी में जैसा कहा जाता है — What can I do for you? (आपके लिए क्या कर सकता हूँ?) मानो ठीक ऐसा ही भाव है। जिसके लिए सब कुछ छोड़ा, वही यदि इस प्रकार व्यवहार करे तो इससे बढ़कर परीक्षा और क्या हो सकती है? लेकिन मार्ग की भयंकरता यदि प्रारम्भ से ही चित्रित कर दी जाए, तब तो भय के मारे कोई इस पथ पर पैर ही नहीं बढ़ाएगा। इसलिए कहना पड़ता है कि उपाय है। उन पर निर्भर करो। वे ही समस्त विपत्तियों से तुम्हारा उद्धार करेंगे। "तेषामहं समुद्धर्ता

मृत्युसंसारसागरात्'' – मैं मृत्युरूप संसारसागर से उनका उद्धार करता हूँ, जो ''मय्यावेशितचेतसाम्'' हैं – जिनका चित्त मुझमें निविष्ट है। लेकिन कोई उद्धार चाहे तभी तो वे उद्धार करेंगे। ठाकुर कहते थे कि विष्ठा के कीट को यदि भात की हण्डी में रख दिया जाए तो वह मर जाएगा। हमारी अवस्था भी इसी प्रकार है। संसार की मलिनता में ही हमें सन्तोष है और इसके भीतर ही हम हृष्ट-पुष्ट होते हैं, फिर भगवच्चिन्तन करने के लिए अवकाश कहाँ है? और यदि हम भगवान् की बात पसन्द भी करते हैं तो उसी प्रकार से, जैसा कि स्वामीजी ने कहा था – बैठकखाने को सजाने के लिए एक जापानी गुलदस्ते की आवश्यकता हम महसूस करते हैं; अर्थात् धर्म की आवश्यकता हमारे जीवन में गुलदस्ते के समान एक फैशन मात्र है। हम भगवान् की ओर इसी प्रकार मन देते हैं। लेकिन इस तरह मन देने से काम नहीं चलेगा, पूरा मन ही उन्हें देना पड़ेगा। पर हजारों बन्धनों को काटकर पूरा मन उनकी ओर देना एक बड़ी कठिन बात है।

### शरणागति

शास्त्र का निर्देश चाहे जितना कठिन हो, पालने की चेष्टा करनी चाहिए। क्यों? – इसलिए कि इसके अलावा मनुष्य के लिए कल्याणप्रद और कुछ नहीं है। इस बात को यदि मनुष्य हृदय से समझ सके, तब तो प्रभु चरणों में शरण लिये बिना वह करेगा ही क्या? भागवत कहता है – मरणशील मनुष्य देखता है कि उसके पींछे मृत्युरूप कालसर्प डसने के लिए दौड़ा चला आ रहा है, इसलिए भय के मारे वह भाग खड़ा होता है; भागते भागते स्वर्ग, मर्त्य, पाताल, तीनों लोकों को छान मारता है पर कहीं भी वह निस्तार नहीं देखता। पीछे वही कालसर्प दौड़ा आ रहा है। भागते भागते अन्त में थककर, अवसन्न होकर वह देखता है कि भगवान् के पादपद्मों में आ पड़ा है। वह खोजकर तो नहीं पा सका था, पर भागते भागते किसी प्रकार पूर्वजन्मों के पुण्यों से कहें या उनकी ही कृपा से – उनके पादपद्मों के निकट आ पड़ा। और वहाँ आकर वह निश्चिन्त और आश्वस्त होकर सो जाता है। आश्वस्त क्यों? इसलिए कि कालसर्प का वहाँ भय नहीं है। लगता है कि इसी के प्रतीक-स्वरूप नारायण के वाहन के रूप में गरुड़ का ग्रहण किया गया है, जिसके पास साँप फटक नहीं

सकता। इस प्रकार उनके पादपद्मों में शरण लेने पर मनुष्य मृत्यु के हाथ से छुटकारा पा जाता है।

मृत्यु किसे कहते हैं ? – स्वयं को भूले रहना स्वयं के स्वरूप को भूले रहना ही मृत्यु है। हमारी यह मृत्यु सब जगह है, हम सदैव मृत्युग्रस्त बने रहते हैं, क्योंकि मृत्यु का अर्थ केवल देह का नाश नहीं, बल्कि उसका अर्थ है – भगवान् को भूले रहना। इसलिए मृत्यु के हाथ से छुटकारा पाने का उपाय है उनका आश्रय लेकर रहना। पर उनका आश्रय लेना भी सरल नहीं है, यह हम बाद में समझ सकेंगे। इस लोक के समान तीन लोकों में भागते भागते थककर तब कहीं उनके पादपद्मों में आश्रय पाएँगे। यह जो तीन लोकों में भागना है, यह जो मन के साथ संग्राम करना है, वह करके जब हम अवसन्न हो जाते हैं, तब कहीं अन्त में शरणागति का भाव हमारे मन में आता है, तभी वे हमें आश्रय देते हैं। यदि ऐसा न होता तो सदा उनके साथ ओतप्रोत रूप से जुड़कर भी हम कैसे उनसे दूर रहते ? और यह साधना तभी शुरू होती है, जब यह संसार विषवत् अनुभव होता है।

## संसार और साधना

अब यह तो बड़ी विडम्बना की बात है कि संसार में रहते हुए उसे विषवत् मानना होगा। पर सत्य यह है कि जब तक संसार मन को मधुर लगता है, तब तक अन्य मधुर की आवश्यकता कहाँ है? वहाँ भगवान् की आवश्यकता नहीं है। यदि कभी आवश्यकता पड़ी भी तो हम कहेंगे – हे प्रभु, बच्चा बीमार है, ठीक कर दो; या कहेंगे – प्रभु, फसल जरा अच्छी देना। बस, भगवान् की आवश्यकता यहीं तक रहती है! हम इस संसार को चाहते हैं, और इस संसार में सुख पाने के तथा दुःख से बचने के उपाय के रूप में हम भगवान् को चाहते हैं। वास्तव में हृदय से हम उन्हें नहीं चाहते। ऐसे वीरहृदय व्यक्ति बहुत कम हैं जो उनके लिए सर्वस्व का त्याग करने को प्रस्तुत हैं। सुनकर ऐसा लगेगा कि यह तो संन्यास की बात है! लेकिन यह संन्यास की बात नहीं है, यह सच्चे भक्त के हृदय की बात है। जब हम कहते हैं, "नाथ, तुम्ही मेरे सर्वस्व हो", तब हम इस बात को तोतारटन्त की तरह दुहराते हैं। उसके अर्थ को हृदयंगम करने योग्य दृढ़ता हममें नहीं होती। ठाकुर कह रहे हैं

– "तुम यह भी करो, वह भी करो।" लेकिन तुरन्त बाद वे यह भी कहते हैं कि जब परिस्थिति अनुकूल हो, तब "दोनों हाथ से उन्हें पकड़ लो"। यह जो दोनों हाथ से उन्हें पकड़ना है, यही लक्ष्य है; और इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए ही, अवस्थाविशेष में आवश्यकता होने पर, एक हाथ से उन्हें पकड़ने की बात कही गयी है। यह न हो तो संसार में एक हाथ और भगवान् में दूसरा हाथ – यह कोई काम की बात नहीं हुई। मूल बात है, दोनों हाथ से उन्हें पकड़ना। पर देखा जाता है कि या तो संसार हमें नहीं छोड़ता या फिर हमीं संसार को नहीं छोड़ते। मानो आपस में एक प्रकार का समझौता कर लेते हैं। कहा जाता है कि ठीक है, एक हाथ से संसार के कामकाज करो और दूसरे हाथ से भगवान् को पकड़े रहो। ठाकुर के शिष्य कहा करते थे कि यदि दो आना मन लगाकर भी संसार किया जाए तो भी बहुत है। हम लोग बहुधा कहा करते हैं, "संसार में इतना काम है कि भगवच्चिन्तन करने का अवकाश नहीं मिलता" – यह बात भी यदि सर्वदा मन में रहे तो प्रकारान्तर से उन्हीं का चिन्तन हो जाता है। पर वह तो होता नहीं है। वस्तुतः हम जो कहते हैं कि काम के भार के कारण मुझे ईश्वरचिन्तन का समय नहीं मिलता, वह केवल आत्मप्रवंचना है, अपने को भुलावे में रखना है। उस समय क्या यह बात याद रहती है कि उन्हें छोड़कर और कुछ नहीं है! तब क्या यह याद रहता है कि "ईशावास्यमिदं सर्वम्" – इस विश्वब्रह्माण्ड को उस आत्मतत्त्व से भर लेना होगा, अपने समस्त जीवन को उसी ईश्वर से भर लेना होगा!

□ □ □

# १७. विजयकृष्ण गोस्वामी आदि के प्रति उपदेश - ३

(वचनामृत १।१९।६-७ : १४ दिसम्बर १८८२)

### ज्ञानी की अवस्था और श्रीरामकृष्ण की उपमा

विजयकृष्ण गोस्वामी के साथ ठाकुर की अविराम भगवच्चर्चा चल रही है। विजयकृष्ण ठाकुर से प्रश्न करते हैं – मन के सप्तम भूमि में पहुँचने पर जब मनुष्य को ब्रह्मज्ञान होता है, तब वह क्या देखता है ? इस प्रश्न के उत्तर में ठाकुर कहते हैं – वहाँ जाकर मन का नाश हो जाता है, अतः वहाँ की खबर देनेवाला कोई रह नहीं जाता। उसकी अवस्था उस नमक के पुतले के समान हो जाती है, जो समुद्र नापने गया। नमक का पुतला समुद्र नापने जाकर गल गया, पुतला रहा नहीं। इसी प्रकार जो व्यक्ति ब्रह्म को पा लेता है, उसका व्यक्तित्व फिर बचा नहीं रहता। उपनिषद् में एक दृष्टान्त आता है –

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥

– शुद्ध जलराशि में जब एक शुद्ध जलबिन्दु टपकता है, तो वह शुद्ध जलबिन्दु भी उस जलराशि के समान ही हो जाता है; 'तादृगेव भवति' – ठीक उसी प्रकार हो जाता है। जो ज्ञानी है, मुनि है, मननशील साधक है, उसकी आत्मा की अवस्था भी इसी प्रकार होती है। उसका व्यक्तित्व निश्चिह्न हो जाता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या इसमें उसका लोप हो जाता है ? इसका उत्तर है – इसमें उसका लोप नहीं होता, केवल उसके चारों ओर जो घेरा है, जिस दायरे को बनाकर उसने स्वयं को अन्य वस्तु से पृथक् बनाए रखा था, उस घेरे का, उस दायरे का नाश हो जाता है। अर्थात् जो अब तक क्षुद्र बिन्दु था, वह अब बिन्दुरूप नहीं रहता प्रत्युत सिन्धुरूप हो जाता है। बिन्दु के रूप में उसकी जो क्षुद्रता थी, केवल उसका नाश होता है और वह असीम हो जाता है। ठाकुर ने एक और दृष्टान्त दिया है – जलराशि में यदि एक लाठी रखी जाए तो ऐसा प्रतीत होता है मानो जल के दो भाग हो गये, पर वास्तव में जल जैसा था वैसा

ही रहता है, केवल लाठी के रहने से दो भाग हुए से दिखाई देते हैं। उसी प्रकार 'मैं'-बुद्धि के रहने से ही ऐसा प्रतीत होता है कि मेरा व्यक्तित्व अलग हो गया। अब उस 'अहं-लाठी' को उठा लो तो वही एक जल रह जाएगा। 'मैं' को हटा लो तो 'मैं एक अलग' और 'वह एक अलग' ऐसा विभाग नहीं रह जाएगा। जैसे लाठी के रखने से जल का जो विभाजन होता है, वह सत्य नहीं है, उसी प्रकार यह 'मैं'-रूप वस्तु भी सत्ता को यथार्थ में पृथक् नहीं करती; जगत् के समस्त तत्त्वों को विषय-विषयी के रूप में, दृश्य-द्रष्टा के रूप के अलग नहीं करती। पर हाँ, जल के विभाजन की तरह ऐसा लगता है कि 'मैं' और 'मेरा' – द्रष्टा और दृश्य – दो पृथक् वस्तुएँ हैं, लेकिन वास्तव में वे भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। इसलिए ठाकुर कहते हैं, "अहं ही यह लाठी है, लाठी उठा लो, वही एक जल बना रहेगा।"

अब प्रश्न यह है कि यदि यह 'अंह' ही समस्त विनाश का मूल है, तो फिर जिस मार्ग में चलकर इस 'अहं' का नाश हो वही अच्छा है। भक्तियोग में यदि 'अहं' बना रहता है, तो ज्ञान का मार्ग ही अच्छा है, जिससे अज्ञान दूर होता है और 'अहं' का नाश होता है। विजयकृष्ण गोस्वामी ठाकुर से यही प्रश्न करते हैं। उत्तर में ठाकुर कहते हैं कि ज्ञानयोग के द्वारा दो-एक लोगों का 'अहं' अवश्य जाता है, लेकिन शेष दूसरों का प्रायः नहीं जाता। हजार बार विचार करो, 'अहं' घूम-फिरकर आ ही जाता है। ठाकुर कहते हैं, यह पीपल के झाड़ को काटने के समान है। "आज झाड़ को काट दो, कल सुबह देखोगे, फिर से कोपलें फूट निकली हैं।"

हम विचार करते हैं – यह जगत् मिथ्या है, मैं भी इस जगत् के अन्तर्गत हूँ, यह 'मैं-मेरा' अहंकार भी उस मिथ्या का ही कार्य है, जिसका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है, अतः हमें यह जो प्रतीत होता है कि यह सत्य है, वह हमारी भ्रान्त धारणा के कारण होता है। इस प्रकार हम मन को समझाते हैं। लेकिन हम हजार विचार करें, किसी भी प्रकार यह 'अहं' नहीं जाता। बड़े बड़े पण्डितों और दार्शनिकों के पाण्डित्य और दार्शनिक विचारों के बीच भी वह 'अहं' अपनी चमक दिखाता रहता है। प्रयत्न करने पर भी अहंकार नहीं जाता। ठाकुर कहते थे कि दैवयोग से किसी का 'अहं' जा भी सकता है,

लेकिन साधारण व्यक्ति के लिए इस प्रकार 'अहं' से निवृत्त होना बड़ा कठिन है। इसलिए वे कहते हैं – "यदि यह 'मैं' जाने का नहीं तो रहे दुष्ट 'दास मैं' बनकर! . . . मैं दास हूँ, मैं भक्त हूँ – इस प्रकार के 'मैं' में दोष नहीं है।"

## भक्त का 'दास मैं'

यह 'भक्त मैं', 'दास मैं' मनुष्य को संसार में नहीं बाँधता। अहंकार को दोषपूर्ण क्यों मानते हैं? इसलिए कि वह बन्धन में डालता है। लेकिन जो अहंकार बन्धन में नहीं डालता, उसमें दोष क्या है? इसलिए 'मैं दास' 'मैं भक्त' 'मैं उनकी सन्तान' – ऐसे 'मैं' में कोई दोष नहीं है। यह बात क्यों कह रहे हैं? इसलिए कि ज्ञानयोग के द्वारा 'अहं' को सम्पूर्ण रूप से निर्मूल किया जाना भले ही सत्य है, पर ज्ञानयोग का अनुशीलन करते हुए इतनी दूर तक अग्रसर होना भला कितने लोगों के लिए सम्भव है? देहात्मबुद्धि दूर हुए बिना इस ज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं हुआ जाता। देहात्मबुद्धि माने इस देह को ही 'मैं' समझना। शिशु से लेकर वृद्ध तक, मूर्ख से लेकर पण्डित तक सभी इस देह को ही 'मैं' समझते हैं। इसलिए ठाकुर कह रहे हैं कि चाहे जितना कहूँ कि काँटा और उसकी चुभन नहीं है, पर जब वही काँटा हाथ में चुभता है, तब 'उफ' कह उठता हूँ। साधारण मनुष्य की तो बात क्या, तोतापुरी के समान उच्च अधिकारी का मन भी देह के लिए नीचे उतर आया था। इस देहात्मबुद्धि का प्रभाव इतनी दूर तक फैला है। अब प्रश्न यह है कि जब ज्ञानी की भी यही दशा है, तब साधारण मनुष्य क्या करे? उसके लिए ऐसा कोई उपाय करना उचित है, जिससे वह इस 'बदजात मैं' के – अर्थात् जो 'मैं' बन्धन की सृष्टि करता है उस 'मैं' के – हाथ से मुक्त हो 'शुद्ध मैं' हो सके। इस 'शुद्ध मैं' के रहने से कोई दोष नहीं है, अतः उसका नाश करने के लिए किसी उत्कट साधना की आवश्यकता नहीं है। यदि हो भी, तो वह हमारी क्षमता से बाहर है। इसीलिए ठाकुर कहते हैं, "कलियुग में प्राण अन्नगत हैं, देहात्मबुद्धि, अहंबुद्धि जाती नहीं। अतएव कलियुग के लिए भक्तियोग है।" कलियुग में मनुष्य का मन देह में जकड़ा रहता है।

## कलि में भक्तियोग

उपनिषदों के युग की हम 'सत्ययुग' के रूप में कल्पना करते हैं। पर

उस समय भी उपनिषद् ने कहा था – "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" – इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर मानो भगवान् ने जीव का महान् अनिष्ट किया है। तभी तो वह केवल बाहरी वस्तुओं को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं देखता। यह उसी उपनिषद्-युग की बात है। अतः यह सभी कालों में, सभी मनुष्यों के लिए सनातन सत्य है। कलियुग का प्रभाव क्या केवल वर्तमान में ही रहा है ? वह तो चिरकाल से रहा है; क्योंकि जिस 'देहात्मबुद्धि' को कलियुग का वैशिष्ट्य कहा गया है, उसके प्रभाव से मनुष्य सत्य, त्रेता, द्वापर, किसी भी युग में मुक्त नहीं है। इस युग में ही हम फिर से ऐसे मनुष्य देखेंगे, जिन्हें हम सत्य, त्रेता अथवा द्वापर के मनुष्य कह सकते हैं। फिर सत्ययुग में भी कलियुग के समान आसुरी प्रकृति के लोग देखे जाते हैं। अतः युग का ठीक इस प्रकार विभाजन नहीं किया जा सकता। हम कलियुग को चाहे जितना दोष दें, भागवत में एक स्थान पर आता है – "कृतादिषु महाराज कलाविच्छन्ति संभूतिम्" – कृत माने सत्ययुग। तो सत्ययुग के लोग भी इस कलियुग में जन्म लेने की इच्छा करते हैं। वे सोचते हैं कि यदि हम कलियुग में जन्म लेते तो इतनी कठोर साधना की आवश्यकता नहीं होती, अनायास ही भक्तिमार्ग का अवलम्बन कर सिद्धि पा लेते। तात्पर्य यह है कि सब युगों में मनुष्यों के बीच ऊँच-नीच मनोवृत्ति रहती है। फिर इन सब के बीच रहकर भी उद्धार पाने का उपाय है। और साधारण मनुष्य के लिए वह उपाय है भक्तियोग। चाहे कोई भी युग क्यों न हो, यदि सहजलभ्य भक्तियोग का अवलम्बन कर आगे बढ़ा जाए तो फिर ज्ञानयोग की क्या आवश्यकता है, इतनी कठोरता अथवा कर्मयोग के इतने आडम्बर का क्या प्रयोजन है, जहाँ हजार वर्ष तक एक एक यज्ञ करना पड़ता है ? पुराण आदि में आता है कि अमुक व्यक्ति ने दस हजार वर्ष तक तपस्या की। हम लोग एक सौ वर्ष भी तो जीवित रहते नहीं, फिर उन सब का विचार करने से हमें क्या लाभ ?

पर इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि ज्ञानयोग कोई उपाय नहीं है। ज्ञानयोग उपाय तो है, लेकिन उस उपाय के अनुसरण की क्षमता हममें से कितने लोगों में है ? मुट्ठी भर लोगों में वह क्षमता भले ही हो, पर शेष सब लोगों के लिए तो वह उपाय पहुँच से बाहर है। अतएव हमारे लिए तो वही

उपाय श्रेष्ठ है, जो हमें अनुकूल हो, अथवा हमारी सामर्थ्य के भीतर हो। इसलिए ऐसा कहना नहीं बनता कि यह योग श्रेष्ठ है और वह निकृष्ट। जिसके लिए जो उपाय उपयोगी है, उसके लिए वही श्रेष्ठ है। बाजार में अनेक प्रकार की असरदार और कीमती-कीमती दवाइयाँ हैं, पर उनमें से किसी भी एक को खा लेने से ही क्या रोग दूर हो जाता है? रोग को दूर करने के लिए हमारे लिए जो औषध उपयोगी है, उसी को ग्रहण करना होगा।

### भागवत : ज्ञान, भक्ति और कर्म

भागवत में तीन योगों की बात कही गयी है – भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग। जिनका विषयों के प्रति अत्यन्त वैराग्य है, जिनमें कोई कामना नहीं है, जो समस्त कर्मों का त्याग कर चुके हैं – निःसन्देह यहाँ पर 'कर्म' कहने का तात्पर्य है सकाम कर्म से; 'यह कर्म करके यह फल प्राप्त करूँगा' – इसे कहते हैं सकाम कर्म', तो जिन्होंने इस सकाम कर्म का त्याग किया है, उन्हीं लोगों के लिए ज्ञानयोग का विधान है। और जिन लोगों के मन में कामना-वासना प्रबल है, उनके लिए है कर्मयोग। कामना प्रबल होने के कारण वे पहले कामनायुक्त होकर शास्त्रीय कर्म करेंगे। इस प्रकार करते करते वे धीरे धीरे उच्चतर अवस्था में पहुँचेंगे। इसलिए सकाम कर्म से ही उनकी साधना शुरू होगी। और जो लोग न तो अतिशय विषयविरागी हैं और न अतिशय भोगपरायण, अर्थात् जिनमें ऐसी कोई तीव्र कामना नहीं है, जो उन्हें भगवान् की ओर बढ़ने न देती हो, फिर जिनमें इतना तीव्र वैराग्य भी नहीं है कि मन विषय की ओर एकदम जाए ही नहीं – उनके लिए है भक्तियोग। एक के लिए जो पथ्य है, दूसरे के लिए वह विषवत् त्याज्य है। इसीलिए भक्तियोगी ज्ञानयोग से डरते हैं और ज्ञानयोगी भक्तियोग की उपेक्षा करते हैं। फिर भक्तियोगी और ज्ञानयोगी दोनों ही कर्मयोगी से घृणा करते हैं। लेकिन ये सभी मनुष्य के लिए प्रगति के पथ हैं, अतः कोई भी उपेक्षा या घृणा की वस्तु नहीं है। जो जहाँ पर है, उसे वहीं से एक एक कदम आगे बढ़ना होगा। एक छलाँग लगाकर क्या छत पर चढ़ा जा सकता है? एक एक करके सीढ़ी पर से चढ़ना होगा, तब कहीं छत पर चढ़ना सम्भव होगा। अब यदि मैं उन सीढ़ियों को घृणित समझकर नापसन्द करूँ, क्योंकि वे सब नीचे की ओर से आती हैं,

तब तो मेरे लिए कभी ऊपर चढ़ना सम्भव ही नहीं होगा। व्याकुल होकर निष्ठापूर्वक हमें अपने अपने रास्ते से आगे बढ़ना होगा। जब तक हममें स्वयं अपने रास्ते पर चलने की तीव्र व्याकुलता नहीं रहती तभी तक हम दूसरों के मार्ग की निन्दा करते हुए उनको तुच्छ समझते हैं। तीव्र व्याकुलता लेकर, एकनिष्ठ होकर जो अपने रास्ते पर बढ़ चला है, उसके लिए क्या अन्य लोगों के रास्ते पर दृष्टि डालना और उनकी आलोचना करना सम्भव है?

इसलिए अपने हृदय को टटोलकर मुझे देखना होगा कि मैं किस पथ का अधिकारी हूँ। मैं यदि तीव्र वैराग्यवान् हूँ, तब तो ज्ञानयोग की ओर दृष्टि डाल सकता हूँ, और यदि वह नहीं हूँ तो मेरे लिए ज्ञानयोग के मार्ग का अनुसरण करने की चेष्टा एक ऐसी विपत्ति को जन्म देगी जो मुझे साधनापथ पर आगे नहीं बढ़ने देगी।

इसके बाद ठाकुर कह रहे हैं, "भक्त लोग जो 'मैं भक्त', 'मैं दास' ऐसा 'मैं' रख लेते हैं, उस 'मैं' में दोष नहीं है, क्योंकि वह 'मैं' मनुष्य को ऐसे किसी बन्धन में नहीं डालता जो सहज में ही न छूट जाए। ज्ञानी अपने अहं को मिथ्या कहकर उसका परिहार करता है और भक्त भगवान् का चिन्तन करते करते ऐसा हो जाता है कि तब उसकी क्षुद्रता, उसकी अपूर्णता निर्मूल हो जाती है।

### भक्त का ज्ञानलाभ और श्रीरामकृष्ण की उपमा

इसके बाद विजयकृष्ण गोस्वामी प्रश्न करते हैं — इस 'भक्त मैं' या 'दास मैं' के काम-क्रोधादि किस प्रकार रहते हैं? उत्तर में ठाकुर कहते हैं — इनमें काम-क्रोधादि का निशान भर रहता है, वे उनको विचलित नहीं कर पाते। रस्सी यदि जल जाए तो वह रस्सी के समान दिखाई तो देती है, पर तब उससे रस्सी का कोई काम नहीं बनता, उससे बाँधा नहीं जा सकता। अब पहले तो इस 'दास मैं' या 'भक्त मैं' के भाव का अपने पर आरोपण करना होता है। भगवान् को तो जाना है नहीं, अतः कल्पना करके ऐसा भाव जगाने की कोशिश करनी पड़ती है कि मैं 'उनका दास' हूँ, 'उनका भक्त' हूँ। इस प्रकार सोचते सोचते जब इस भाव की सिद्धि होती है, तब भक्त भगवान् का साक्षात्कार करता है। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं। वे चाहें तो भक्त को

ब्रह्मज्ञान भी दे सकते हैं। इसलिए भक्तों की इच्छा हो तो वे भगवान् से ब्रह्मज्ञान भी प्राप्त कर सकते हैं। अतः ऐसी बात नहीं कि ब्रह्मज्ञान के ऊपर केवल ज्ञानयोगियों का ही एकाधिकार हो। भक्तियोग के द्वारा भी ब्रह्मज्ञान होता है। ठाकुर दृष्टान्त देते हुए कहते हैं – जैसे घर का पुराना नौकर, वह मालिक से हरदम दूर दूर रहता है, लेकिन मालिक यदि किसी दिन स्वेच्छा से उसे खींचकर अपने पास बिठा ले, तब क्या वह फिर दूर बैठ सकता है ? तब तो उसे मालिक के पास ही बैठना पड़ेगा। पर बात यह है कि साधारण भक्त ब्रह्मज्ञान नहीं चाहता, जैसा कि रामप्रसाद कहते हैं – "मैं चीनी होना नहीं चाहता, माँ, मुझे चीनी खाना अच्छा लगता है।" वह स्वयं को भगवान् से अलग रखकर, उनका उपास्यरूप में अथवा शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर – इनमें से किसी एक भाव में आस्वादन करना चाहता है। यह हुई भक्त की अभिरुचि। जो सर्वशक्तिमान् हैं, जो सब कुछ दे सकते हैं, वे क्या भक्त को ब्रह्मज्ञान नहीं दे सकेंगे ? लेकिन भक्त वह नहीं चाहता। वह तो अनन्तकाल तक उनका आस्वादन करना चाहता है – यह उसकी प्रवृत्ति है। इसमें कोई दोष नहीं होता; दोष तब होता है, जब भक्त सोचता है कि जो ज्ञानी है, वह एकदम नीरस है, शुष्क है, क्योंकि वह यह नहीं समझ पाता कि वह स्वयं जिस रस का आस्वादन कर रहा है, दूसरे भी उसी का आस्वादन अन्य प्रकार से कर सकते हैं। यह एकांगी भाव ज्ञानियों का भी होता है और भक्तों का भी। यहाँ तक कि तोतापुरी के समान ज्ञानी ने भी ठाकुर के, ताली बजाकर भगवन्नाम करने को "क्यों रोटी ठोंकता है?" कहकर उपहास किया था।

### ठाकुर की शिक्षा

इसीलिए ठाकुर की यह विशेष शिक्षा है कि अपने अपने भाव के प्रति एकनिष्ठ रहो, साथ ही दूसरों के भाव को श्रद्धा की दृष्टि से देखो। परस्पर एक दूसरे के प्रति श्रद्धा रखो, दूसरों के भाव के प्रति सहानुभूतिसम्पन्न रहो, लेकिन अपने भाव में दृढ़निष्ठा रखकर चलो। यह विशेष शिक्षा ही ठाकुर की विशिष्टता है। यह भाव आज के युग के लिए विशेष उपयोगी है, और यहीं पर श्रीरामकृष्ण का युगावतारत्व है।

□ □ □

# १८. विजयकृष्ण गोस्वामी आदि के प्रति उपदेश – ४

(वचनामृत १।१९।७ : १४ दिसम्बर १८८२)

दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर में विजयकृष्ण गोस्वामी के साथ ठाकुर की अविराम भगवच्चर्चा चल रही है।

**ज्ञानपथ कठिन**

इसके पहले ठाकुर ने 'बदजात मैं' को दूर करने तथा 'भक्त मैं', 'दास मैं' को रखने के लिए कहा था, क्योंकि इस 'मैं' में कोई दोष नहीं है। गुण–दोष हम किसे कहते हैं ? जो भगवान् के पास ले जाए वह गुण है, और जो भगवान् से दूर कर दे वह दोष है। 'भक्त का मैं', 'दास मैं' भक्त को भगवान् से थोड़ी दूर रखता है सही, लेकिन वह दूरी ऐसी नहीं है, जो उसके आस्वादन में बाधा उत्पन्न करे। यदि कोई यह कहे कि भक्त और भगवान् के बीच थोड़ीसी भी दूरी क्यों बनी रहनी चाहिए, तो इसके उत्तर में ठाकुर कहते हैं, उनसे अपनी दूरी मिटा देने की बात मुँह से कहना सहज है, लेकिन कार्यरूप में उसे परिणत करना उतना आसान नहीं है। भले ही मैं यह कहूँ कि मुझमें तीनों गुणों में से एक भी नहीं है, अतः मैं इन तीनों गुणों से मुक्त हूँ लेकिन जब मैं यह कहता हूँ उस समय भी यह जानता हूँ कि मैं एकदम मुक्त नहीं हूँ। यह जो मुँह की बात और अन्तःकरण की बात में अन्तर है, उसके रहते मनुष्य कभी अपने आदर्श तक नहीं पहुँच सकेगा। 'गीता' में भगवान् ने कहा है :

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

– जो भगवान् के निराकार भाव की ओर आकृष्ट हैं, उनका कष्ट अधिक है, क्योंकि जो मन-वाणी से अतीत है, उसकी ओर जाया भी नहीं जाता, फिर अन्य प्रकार से उसका आस्वादन करने की रुचि भी नहीं होती। इसलिए ठाकुर ने 'सोऽहं' भाव के प्रति सावधान कर दिया है। उन्होंने यह नहीं कहा कि यह सिद्धान्त गलत है, अपितु यह कहा कि साधारण मनुष्य के लिए यह भाव

सहजसाध्य नहीं है। हम मुँह से तो कहेंगे कि 'मैं वह हूँ' और उधर हजारों प्रकार के संशय और आसक्ति से घिरे रहेंगे। अतएव 'मैं वही हूँ' कहकर हम अपने आपको धोखा देते हैं और दूसरों को भ्रमित करते हैं। हम जिन साधनों के योग्य हैं, उन्हें छोड़कर जब हम उस साधन की ओर झुकते हैं जिसके योग्य हम नहीं हैं, तब हमारी अवस्था उस छोटे बच्चे की तरह होती है, जो अपना जूता छोड़कर अपने पिता के जूते में पाँव डालकर चलने की चेष्टा करता है। फलस्वरूप जैसे वह चल नहीं पाता, उसी प्रकार हम भी साधनापथ पर अग्रसर नहीं हो पाते।

हम लोग हो गये हैं 'इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः'। 'ततो भ्रष्टः' इसलिए कि अपने लक्ष्य तक हम पहुँच नहीं सके, और 'इतो नष्टः' इसलिए कि जो साधन जिस व्यक्ति के लिए उपयुक्त है, उसमें उसकी प्रवृत्ति हुई नहीं, क्योंकि वह समझ बैठा कि वह साधनहीन अधिकारी के लिए है। अतः तुम जो साधना कर सकते हो, उसी को निष्ठापूर्वक करो, उस पर श्रद्धा रखो। यही मुख्य बात है। जो साधना हम करेंगे, उस पर यदि हमारी श्रद्धा न रहे, यदि ऐसा लगे कि यह तो हीन लोगों के लिए है, तब तो वह साधना हमें कभी आगे नहीं ले जा सकेगी।

"जार जेइ भाव होय तार से उत्तम।
तटस्थ होये बिचारिले आछे तदुत्तम॥"

— साधना करते समय जिसका जैसा भाव होता है, उसके लिए वही श्रेष्ठ है, क्योंकि उसी को पकड़कर वह आगे बढ़ सकता है। परन्तु चाहे जिस भाव को लेकर ही आगे क्यों न बढ़ा जाए, लक्ष्य में पहुँचकर यदि विचार करके देखो तो पाओगे कि उससे भी श्रेष्ठ भाव है।

जैसे अद्वैतभाव की साधना करते समय मनुष्य यदि यह कहे कि 'मैं ब्रह्म हूँ' इसी भाव से मैं साधना करूँगा, तो सत्य तो यह है कि तब उसके लिए कोई साधना करना सम्भव नहीं है, क्योंकि मैं ही यदि ब्रह्म हूँ, तो फिर साधना कौन करेगा ? हम स्वयं को यदि ब्रह्म से अभिन्न समझें, पहले से ही यदि इस अद्वैत सिद्धान्त को अपना लें तब तो इसके बाद साधना का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

## पारमार्थिक सत्य

यह जो 'अहं ब्रह्म' की साधना है, उस पर यदि तटस्थ होकर विचार किया जाए तो दिखाई देता है कि इससे भी उच्चतर भाव वह है, जहाँ 'मैं ब्रह्म हूँ' कहना भी नहीं चलता। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जो कहना है वह भेद को स्वीकार करके ही कहा जाता है। मन के भीतर ऐसा भेद रहता है कि मैं अलग हूँ और ब्रह्म अलग। मैं यह जो 'मैं' और 'हम' कहता हूँ इन दो बातों का तात्पर्य क्या है? भेद की जो प्रतीति है, वह मिथ्या है, अर्थात् सत्य नहीं है। भेद की प्रतीति का होना साधना में कोई सिद्धि की बात नहीं है। अतः सत्य के पास जाकर यदि विचार किया जाए, तो देखेंगे कि उससे भी बड़ा भाव है, जिसमें प्रतिष्ठित होकर अद्वैतवादी कहते हैं –

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

('माण्डूक्यकारिका' २/३२)

– पारमार्थिक सत्य यह हुआ कि 'मन का निरोध' कहकर कुछ नहीं है, 'ज्ञान की उत्पत्ति' कहकर कुछ नहीं है, 'बन्धन' कहकर कुछ नहीं है, 'साधक' कहकर भी कुछ नहीं है। हम जिन शब्दों का अद्वैतसाधना में उपयोग करते हैं, वे सब तो कल्पित वस्तु को स्वीकार करके ही कहे जाते हैं। कल्पना को वास्तविक समझकर मानो हम विचार करते हैं कि मैं अद्वैत की साधना कर रहा हूँ। 'मैं' क्या है? उसकी स्थिति कहाँ है? उसका स्वरूप क्या है? यदि उसका स्वरूप ब्रह्म से भिन्न हो, तब तो 'मैं ब्रह्म हो नहीं सकता। और 'अहं' यदि 'ब्रह्म' से अभिन्न हो तो 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बात का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। दो वस्तुओं का सम्बन्ध उनमें भेद होने से ही होगा। वस्तु यदि एक हो तो स्वयं अपने साथ अपना क्या सम्बन्ध होगा? अतः साधना के समय जब 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा कहा जाता है, तब इस कल्पित भेद को स्वीकार करके ही कहा जाता है। और इस कल्पित भेद को यदि स्वीकार कर ही लिया, तब तो मुझमें द्वैतभाव ही आ गया। इसलिए जब हम उस परम तत्त्व में प्रतिष्ठित होकर देखते हैं, तब पाते हैं कि इन बातों में कोई सार्थकता नहीं है – 'न मुमुक्षुर्न वै मुक्तः' – न कोई मुमुक्षु है, न कोई मुक्त।

बन्धन यदि सत्य है, तभी तो मुक्ति का प्रश्न उठेगा। जब बन्धन ही सत्य नहीं है, तब मुक्ति किस प्रकार सत्य होगी? अतः जिस दृष्टि से इन विभिन्न प्रकार की साधनाओं की बात कही जाती है उसके अनुसार इनमें से प्रत्येक के भीतर द्वैतभाव समाया हुआ है। वह द्वैत परमार्थतः न होते हुए भी व्यवहार में तो है ही; और इस व्यवहार का अवलम्बन करके ही तो इतने शास्त्र हैं, इतनी साधनाएँ हैं! आचार्य शंकर 'ब्रह्मसूत्र' की व्याख्या करते हुए अपने 'अध्यासभाष्य' के प्रारम्भ में ही कहते हैं – 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।' लोकव्यवहार में नैसर्गिक रूप से सत्य और मिथ्या मिले-जुले रहते हैं।

## साधना में द्वैतभाव

सत्य और मिथ्या को मिलाकर इस जगत् का सारा व्यवहार चलता है। सारा व्यवहार माने लौकिक व्यवहार और वैदिक व्यवहार दोनों ही। इस दृष्टि से देखने पर वेदों को भी नित्य कहना नहीं बनता। नित्य मात्र एक है। एक कहना भी मानो भूल है; नित्य मात्र वह है, जहाँ समस्त द्वैत का अवसान हो जाए। इसे वेदान्तदर्शन में अ-द्वैत कहा गया है। ऐसी दशा में वह परम सत्य क्या है? वह क्या है, यह मुँह से नहीं कहा जाता। यह मुँह से नहीं कहा जा सकना वक्ता की असमर्थता के कारण नहीं है। कहा इसलिए नहीं जा सकता क्योंकि वह मन-वाणी के अगोचर है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' – वाणी के साथ मन भी उसे न पाकर लौट आता है। और यह वाणी केवल लौकिक वाणी तक ही सीमित नहीं है, वैदिक वाणी की भी यही दुरवस्था है। वेद भी कभी ऐसा नहीं कहते कि उस वस्तु को वे प्रकाशित कर सकते हैं, क्योंकि 'तत्र वेदा अवेदा भवन्ति' – वहाँ वेद अवेद हो जाते हैं, अर्थात् वेद अज्ञान की श्रेणी में पड़ जाता है। अतः शास्त्र, लौकिक या वैदिक व्यवहार कोई भी वहाँ काम का नहीं रह जाता। अद्वैत-साधना भी इसके अन्तर्गत आ जाती है। इस बात को यदि हम समझ सकें, तो 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने से विरत हो सकते हैं। मैं कौन हूँ? किसको बड़ा करता हूँ? कौन बड़ा अधिकारी है? इन प्रश्नों का उत्तर कौन देगा? ब्रह्मज्ञान का अधिकारी अगर बड़ा होता है तो वह किससे बड़ा होता है? तात्त्विक दृष्टि से

देखने पर तो उसकी पृथक् सत्ता है ही नहीं। अतः वह किसकी अपेक्षा, किस प्रकार बड़ा होगा ? जो मिथ्या है, वह मिथ्या ही है। मिथ्या के राज्य में 'छोटी मिथ्या' और 'बड़ी मिथ्या' कहने का क्या तुक है ? किन्तु इस मिथ्या के राज्य के भीतर से ही किसी न किसी प्रणाली का अवलम्बन करके इस मिथ्या से पार जाया जाता है। ध्यान रखना होगा कि यह सब प्रणाली भी मिथ्या है। जो भी प्रणाली है, वह प्रणाली होने के कारण मिथ्या है। इस दृष्टि से देखने पर अद्वैत-वेदान्त की साधना भी मिथ्या है और द्वैत-वेदान्त की साधना भी मिथ्या।

### द्विविध भ्रम

पर कोई ऐसी मिथ्या है, जो हमें सत्य तक पहुँचा देती है। उसे शास्त्र में कहते हैं 'संवादी भ्रम'। भ्रम दो प्रकार के होते हैं – 'संवादी भ्रम' और 'असंवादी भ्रम'। एक व्यक्ति ने अन्धकार में प्रकाश देखा; देखकर उसे लगा कि एक मणि चमक रहा है। वह उस मणि को उठाने के लिए आगे बढ़ा। उस प्रकाश का अनुसरण करते हुए उसने जाकर देखा कि जिस प्रकाश को वह मणि समझ रहा था, वह एक मन्दिर के बन्द दरवाजे के बीच एक छिद्र से आता हुआ प्रकाश है। उसने दरवाजे को खोला तो देखा कि सचमुच वहाँ एक मणि है। मणि का जो प्रकाश दरवाजे के छिद्र से होकर बाहर आ रहा था, उसे ही उसने मणि समझा था। अब उसने जिसे पहले मणि समझा था, बाद में उसे समझ में आया कि वह मणि नहीं है, फिर भी उस मिथ्या का अनुसरण करते हुए आगे बढ़कर उसने मणि को पा लिया, अर्थात् सत्य को पा लिया।

एक और व्यक्ति ने ठीक इसी प्रकार के प्रकाश को देखकर उसे मणि समझा। उसे प्राप्त करने के लिए वह मन्दिर के दरवाजे के छिद्र से आते हुए प्रकाश की ओर बढ़ा। दरवाजा खुलते ही उसने देखा कि एक दीपक जल रहा है, मणि नहीं है। जहाँ अनुसरण करते हुए जाकर मणि प्राप्त हुआ, उसे कहा गया 'संवादी भ्रम' अर्थात् जो सत्य को प्राप्त करा दे। और जहाँ अनुसरण करते हुए जाकर मणि को अर्थात् सत्य को नहीं पाया गया, उसे कहा गया 'असंवादी भ्रम'। शास्त्रों की जितनी प्रणालियाँ हैं, वे सभी भ्रम हैं, लेकिन साक्षात् या परम्पराक्रम से वे हमें सत्य तक पहुँचा देती हैं, इसलिए उन सब को

'संवादी भ्रम' कहा गया है। शेष सब 'असंवादी भ्रम' हैं, जो सत्य तक नहीं पहुँचाते।

## अपने अपने भाव में निष्ठा

यदि विराट् सगुण तत्त्व को हम अपने जैसे व्यक्तित्वसम्पन्न समझकर उसकी भावना करें, तब जैसे भी हो, उसका अनुसरण करते करते हम उस परम तत्त्व में पहुँचेंगे। अतः भ्रम होने पर भी वह 'संवादी भ्रम' है, अर्थात् सत्य से मिला देता है। शास्त्रों में जितनी साधनाएँ हैं, वे सभी 'संवादी भ्रम' के समान हैं। शास्त्रों में सर्वत्र जो निर्देश हैं, वे सब लगभग 'अरुन्धती न्याय' के समान हैं। अरुन्धती नक्षत्र को दिखाते हुए कोई यदि पहले ही यह कहे कि 'वह देखो अरुन्धती', तो उसे कोई खोज नहीं पाएगा। इसलिए पहले दिखाना पड़ता है सप्तर्षिमण्डल जिसे मनुष्य आसानी से खोज लेता है। उसके बाद सप्तर्षिमण्डल की पूँछ की ओर से तीसरे वशिष्ठ नक्षत्र को दिखाना पड़ता है। उसके बाद इस नक्षत्र के पास दृष्टि स्थिर करके देखना होता है एक अत्यन्त अस्पष्ट, क्षीण ज्योतिवाले नक्षत्र को। वही अरुन्धती है। ठीक इसी प्रकार यदि पहले से ही उस परमतत्त्व को समझाने की चेष्टा की जाए तो कोई समझ नहीं सकेगा। इसलिए उसे रूप देकर, रस देकर, अनेक प्रकार से अपने लिए आस्वादनयोग्य बनाकर — जिन अनुभूतियों और भावों के साथ हमारा परिचय है, उन सब के साथ उसे सम्बद्ध करके, कहीं उसे माँ कहकर, कहीं सखा तो कहीं प्रभु कहकर — हम शास्त्र के निर्देशन में ही उसे खोज पाते हैं। ठाकुर कहते हैं — इसके बाद वे ही बतला देंगे कि उनका स्वरूप क्या है। वे दिखा देंगे — उनके भीतर कितना वैचित्र्य है, तथा उन सभी वैचित्र्यों से परे भी उनका स्वरूप क्या है। असल बात यह है कि किसी भी प्रकार से उनमें मन को डुबोए रखना होगा, अथवा इसके विपरीत क्रम में यों भी कह सकते हैं कि चाहे जिस प्रकार हो, अपने इस क्षुद्र अहं को दूर करना होगा। इसी का नाम है साधना, फिर वह साधना चाहे अद्वैतभाव की हो, चाहे हमारे परिचित किसी भावसम्बन्ध में से होकर द्वैतभाव की।

□ □ □

# १९. विजयकृष्ण गोस्वामी आदि के प्रति उपदेश – ५

(वचनामृत ११११९।७ : १४ दिसम्बर १८८२।

दक्षिणेश्वर के मन्दिर में श्री विजयकृष्ण गोस्वामी आदि भक्तों के साथ ठाकुर का ईश्वरप्रसंग चल रहा है।

### वैधी भक्ति

भक्ति के प्रसंग में ठाकुर रागात्मिका भक्ति पर जोर देकर कहते हैं कि ठीक इसी प्रकार की भक्ति होने पर भगवान् मिलते हैं। लेकिन जो जहाँ पर है, उसे वहीं से शुरू करना होता है। इस रागात्मिका भक्ति को पाने का उपाय है वैधी भक्ति। यदि कोई यह सोचे कि जब तक रागात्मिका भक्ति नहीं हो जाती तब तक मैं ईश्वरचिन्तन नहीं करूँगा तब तो उसके लिए ईश्वरचिन्तन करना कभी सम्भव नहीं होगा। कारण यह कि जब उनके प्रति परिपूर्ण प्रेम हो जाएगा, तब व्यक्ति के लिए किसी साधना की आवश्यकता ही नहीं होगी। तब न किसी आचार का प्रयोजन रहेगा, न जप-तप का, न विधि-नियम का, न कठोर अनुशासन का। तब तो भक्त केवल आस्वादन लेकर रहेगा, भगवान् को लेकर आनन्द मनाएगा। बहुतेरे भक्तों और साधुओं की भक्ति ऐसी है, जो सब नियमों के परे चली गयी है। पर इसका मतलब यह नहीं कि हम पहले से ही ऐसी अवैधी भक्ति का आश्रय ले लें, क्योंकि भक्ति पाने के लिए तो हमें ऐसा विश्वास लेकर आगे बढ़ना होगा कि साधना के द्वारा ही हम उन्हें पा सकते हैं। पर हम ज्यों ज्यों आगे बढ़ते जाएँगे, त्यों त्यों हमारी बुद्धि साफ होती जाएगी, शुद्धतर होती जाएगी और त्यों त्यों हम समझ सकेंगे कि हम चाहे जितनी कठोर साधना क्यों न करें, भगवान् को पाने के लिए वह कभी पर्याप्त नहीं है। और जिस समय यह बात पूरी तरह से हमारी समझ में आ जाएगी, उसी समय भगवान् पर पूरी निर्भरता आएगी। शास्त्रकारों ने कहा है और साधकों ने भी कहा है कि 'साधना की सहायता से उनको प्राप्त करूँगा' साधक का यह अभिमान, यह अहंकार जब चूर-चर होता है, जब साधक स्वयं

को असहाय अनुभव करता है और पूरी तरह से उनकी शरण लेता है, तभी उनकी कृपा होती है, तभी उनकी दया का अनुभव होता है। निस्सन्देह दया का कोई विधि-नियम नहीं है। यह बात कभी नहीं कही जा सकती कि ऐसा करने से उनकी दया होगी और न करने से नहीं होगी। लेकिन उनकी दया के ऊपर निर्भर करने योग्य मनःस्थिति साधक के जीवन में बहुत साधना के बाद आती है। इस प्रसंग में हम ठाकुर के उस दृष्टान्त का स्मरण करें। बागबाजार के हरि (आगे चलकर स्वामी तुरीयानन्द) बहुत दिनों से ठाकुर के पास नहीं आये थे। ठाकुर ने पता लगाकर जाना कि हरि वेदान्तविचार में मग्न हैं, पर जानकर भी उन्होंने कुछ नहीं कहा। एक दिन ठाकुर बागबाजारस्थित बलराममन्दिर में आये। आते ही हरि को बुला लाने को कहा। हरि ने आकर देखा कि ठाकुर भक्तों से घिरे हुए हॉल में बैठे हैं और एक गीत गा रहे हैं। दोनों आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है, जिससे सामने का गलीचा तक बहुत कुछ भीग गया है। गीत का आशय था – अरे लव-कुश, भला तुम किस बात का अभिमान करते हो ? यदि मैं स्वयं को पकड़ने न देता तो क्या तुम मुझे पकड़ पाते ? लव-कुश हनुमान को बाँधकर सीताजी के पास ले जाते हैं और कहते हैं, "माँ, देखो, हम लोग कितना बड़ा बन्दर पकड़कर लाये हैं।" तब हनुमान् गाते हैं – 'यदि मैं पकड़ने न देता तो क्या तुम मुझे पकड़ पाते ?' मनुष्य सोचता है कि वह साधना के द्वारा ईश्वर को पकड़ लेगा, वह नहीं जानता कि हजार जन्म की साधना भी उनको पाने के लिए नितान्त अपर्याप्त है। ठाकुर का यह गीत सुनकर हरि अपनी भूल समझ सके। न किसी प्रश्न की आवश्यकता हुई, न किसी उपदेश की।

ठाकुर कह रहे हैं – फिर कोई कोई ऐसे भी हैं, जो बचपन से ही रागात्मिका भक्ति लेकर जन्म लेते हैं, जिनमें एकदम शुरू से ही भक्ति का प्रकाश दिखाई देता है, जैसे प्रह्लाद को किसी के पास जाकर भक्ति नहीं सीखनी पड़ी; अपितु नितान्त प्रतिकूल परिवेश में उसकी भक्ति स्वतःस्फूर्त होकर प्रकाशित हो उठी थी। इस प्रकार की भक्ति के आ जाने पर फिर वैधी भक्ति की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस सम्बन्ध में तुलसीदासजी का एक दोहा है –

तुलसी जप तप कीजिए, सब गुड़िया का खेल।
पर जब प्रिय से मिलन हो, रखे पिटारी मेल।।

— यह जप-तप जो कुछ देख रहे हो, सब छोटी लड़कियों के गुड़ियाँ के खेल के समान है। छोटी लड़कियाँ गुड़ियाँ लेकर खेलती हैं; गुड़ियों के संसार में खो जाती हैं। पर जब असली संसार शुरू होगा, जब पति के साथ मिलन होगा, तब उन गुड़ियों को पेटी में डालकर रख दिया जाएगा। ठीक इसी प्रकार जप-तप करना मानो भगवान् को लेकर गुड़िया का खेल खेलना है। इन सब की सार्थकता केवल भगवद्-वृत्ति के अनुशीलन में है। जब भगवान् के आस्वादन का, उनको लेकर आनन्द करने का सुअवसर आता है, तब जप-तप की सार्थकता नहीं रह जाती; तब सब 'गुड़िया का खेल' प्रतीत होता है। जब भगवान् के प्रति प्रेम हृदय में आता है, तब जप आदि कर्मों का त्याग हो जाता है। तब कौन जप करेगा और किसके लिए जप करेगा ? यशोदा कृष्ण के लिए विलाप कर रही हैं। उद्धव उपदेश देते हैं कि कृष्ण तो हृदय में ही विराजमान हैं, उनका ध्यान करने से ही तो वे मिल जाते हैं, फिर इतना विलाप क्यों ? यशोदा कहती हैं — मैं जिस मन से ध्यान करूँगी, वह मन है कहाँ, मैं तो वह मन कब से कन्हैया को दे चुकी हूँ। मन नहीं है, इसलिए साधना का यन्त्र भी नहीं है। यह दृष्टान्त बहुत ही सुन्दर है कि साधक जहाँ तन्मय हो जाता है, वहाँ उसे और किसी साधना के लिए अवकाश रह नहीं जाता। जब तक वे दूर हैं, जब तक उनके प्रति तीव्र प्रेम नहीं होता, तब तक साधना की आवश्यकता है। पर जब उनके प्रति अनुराग आ गया, तब फिर इन सब साधनाओं की कोई सार्थकता नहीं।

## प्रेमाभक्ति से ईश्वरलाभ

यहाँ पर विजयकृष्ण गोस्वामी एक और प्रश्न करते हैं — "महाराज, ईश्वर को पाने के लिए, उनका दर्शन करने के लिए भक्ति ही पर्याप्त है न ?" प्रश्न सुनकर ऐसा लगता है कि इस सम्बन्ध में उनमें संशय है। भक्ति, जो एक भावना है, मन की एक वृत्ति मात्र है, क्या केवल उसी से भगवान् को पाया जा सकता है ? ठाकुर कहते हैं, "हाँ, भक्ति के द्वारा ही उनको पाया जाता है, उनके दर्शन होते हैं।" लेकिन यहाँ 'भक्ति' को समझाते हुए वे कहते हैं,

"पक्की भक्ति, प्रेमाभक्ति, रागात्मिका भक्ति चाहिए।" ऐसी ही भक्ति के आने पर भगवान् से प्रेम होता है। यहाँ पर एक प्रश्न हमारे मन में बार बार आता है कि भक्ति का लक्षण क्या है ? ठाकुर कह रहे हैं – "इस प्रेम के, इस रागात्मिका भक्ति के आने से स्त्री-पुत्र, स्वजन-कुटुम्ब के ऊपर फिर मायिक आकर्षण नहीं रह जाता।" तो क्या मनुष्य पेड़-पत्थर जैसा हो जाता है ? कहते हैं, 'नहीं, माया का आकर्षण नहीं रह जाता, दया रह जाती है।" कहीं हम समझने में गलती न कर बैठें, इसलिए ठाकुर तुरन्त ही कहते हैं कि "दया रहती है।" 'मैं-मेरा' यह बोध 'माया' है, और सर्व जीवों के प्रति करुणा से 'दया' होती है। माँ सन्तान के प्रति दया नहीं करती, माया करती है, क्योंकि वहाँ 'मेरा' बोध है – 'मेरा राम', 'मेरा हरि' इत्यादि। लेकिन यदि माँ का आकर्षण सब के प्रति समान होता, तब उसे फिर 'माया' नहीं कहा जाता। जहाँ ममत्व है, मेरेपन का बोध है, वहाँ केवल उसी व्यक्ति के लिए प्रेम का प्रकाश होता है, इसलिए उसे 'माया' कहते हैं। माया और दया में अन्तर यह है कि 'माया' के द्वारा मनुष्य बन्धन में पड़ता है और 'दया' उसे मुक्ति देती है। इसीलिए ठाकुर ने अनेक स्थानों पर कहा है, "माया ठीक नहीं, दया ठीक है।"

ठाकुर यह भी कहते हैं कि कच्ची भक्ति रहने से भगवान् की बात की धारणा ही नहीं हो पाती; जिसके शुद्धाभक्ति है, प्रेमाभक्ति है, केवल वही भगवान् की कथा की धारणा कर सकता है। ठाकुर फोटोग्राफ के काँच का उदाहरण देते हैं। फोटोग्राफ के काँच में काला मसाला लगा रहता है, उसी से फोटो बनता है। वह नहीं होने से प्रतिबिम्ब आते ही चला जाता है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य के मन में यदि प्रेम न हो, तो उस प्रेमस्वरूप की बात अपना चिह्न अंकित करेगी कैसे ? भगवान् से प्रेम होने पर संसार अनित्य प्रतीत होता है; जैसा कि इस गीत में है –

"मन चलो निज निकेतने।
संसार-विदेशे विदेशीर वेशे भ्रमो केनो अकारणे॥"

– 'मन, अपने घर चलो, इस विदेशरूप संसार में विदेशी के वेश में अकारण क्यों भटक रहा है ?' संसार इसी प्रकार विदेश प्रतीत होता है। अपना देश वहाँ है, जहाँ वे हैं। वे ही प्रेम के एकमात्र पात्र हैं, वे ही एकमात्र प्रेमास्पद हैं। अन्य

स्थानों में उन्हीं की छुटपुट सत्ता है, इसीलिए हम आकर्षण का अनुभव करते हैं। लेकिन असली आकर्षण की वस्तु तो वे ही हैं। वे क्यों अच्छे लगते हैं ? वे 'वे' हैं, इसीलिए वे अच्छे लगते हैं, और कोई कारण नहीं। तब हम भगवान् के रूप-गुण आदि की बात नहीं सोचते, 'वे' हैं, बस यही पर्याप्त है; तब भगवान् हमारे समस्त अन्तःकरण में छाये रहते हैं। और इसी का नाम है प्रेमाभक्ति।

### भक्ति का लक्षण और अनुभूति

यह प्रेमाभक्ति जब कोई पा लेता है, तो उसकी विषयबुद्धि एकदम दूर हो जाती है। विषयबुद्धि के लेशमात्र रहते उनका दर्शन नहीं होता। बहुत से लोग कहते हैं कि उन्हें कई बार अनेकविध रूप आदि दिखते हैं। इसलिए उनका यह प्रश्न है कि क्या वे भगवान् की ओर ठीक ठीक आगे बढ़ रहे हैं ? यह प्रश्न हमसे भी कई लोग करते हैं। भगवान् की ओर बढ़ने की एक कसौटी है, और वह है – विषयभोग का अलोना लगना, विषय के प्रति आकर्षण का कम होना। भागवत के एक श्लोक में कहा गया है कि भगवान् की शरण जाने से भगवान् में भक्ति, भगवान् को छोड़कर अन्य विषयों से विरक्ति और भगवान् के प्रति स्पष्ट धारणा या दृढ़ निश्चय – ये तीन बातें मनुष्य के जीवन में एक साथ आती हैं। जब कोई उपवास करता है, तब उपवास के कारण उसके मन में अतृप्ति रहती है, शरीर में दुर्बलता रहती है और पेट में क्षुधा की ज्वाला रहती है। ऐसा उपवासी व्यक्ति जब भोजन पाकर एक-एक कौर मुँह में डालता है, तब वह अनुभव करता है कि धीरे धीरे उसकी अतृप्ति दूर होती जा रही है, उसमें बल आता जा रहा है, और क्षुधा की ज्वाला भी शान्त होती जा रही है। ये तीनों अनुभव उसे एक साथ होते हैं। इसी प्रकार भगवान् के प्रति जिसमें भक्ति होती है, उसे इन तीन बातों का एक साथ अनुभव होता है – "भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः" – भगवान् के प्रति आकर्षण, भगवान् को छोड़ अन्य सब ओर से विरक्ति और भगवान् के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा। उसका मन ऐसे एक स्वाद से भरा रहता है कि उसे और कोई स्वाद अच्छा नहीं लगता। "यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः" – जिसे पा लेने पर और पाना शेष नहीं रहता। "यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते" – जिसमें अवस्थित होने पर बड़े से बड़ा दुःख भी मनुष्य को विचलित नहीं कर

पाता। तब प्रेमसागर उमड़ पड़ता है और समस्त सुख-दुःख की भावना को डुबो देता है। यह है कसौटी, जिस पर कसकर परीक्षा करनी होती है कि हमारा अनुभव ठीक है या नहीं।

### विषयवितृष्णा और संशयनाश

एक ब्रह्मचारी उत्तरकाशी में रहकर साधना करते थे। उन्होंने एक दिन मुझसे कहा, "देखो स्वामीजी, जब मैं बैठकर ध्यान करता हूँ तो देखता हूँ कि कृष्ण बंसी बजा रहे हैं और तैंतीस करोड़ देवता वहाँ आकर इकट्ठे हो गये हैं।" उनके कहने का मर्म यह था कि साधनाक्षेत्र में अवश्य ही उनकी बहुत उन्नति हो चुकी है। ठाकुर कहते हैं कि इन सब दर्शनों को परखने के लिए एक कसौटी है। यदि ऐसा लगे कि मन भगवान् में एकाग्र हो अचंचल हो गया है, यदि लगे कि विषय अब पहले की तरह अच्छे नहीं लगते, यदि लगे कि भगवान् के सम्बन्ध में सारे संशय दूर हो गये हैं, तब तो समझना होगा कि वे सब दर्शनादि सत्य हैं। अन्यथा यही मानना होगा कि वह सब केवल मन का खेल है। कल्पना, फिर वह कितनी ही मनोरम क्यों न हो, कभी वास्तविक नहीं हो सकती। हाँ, यह सत्य है कि साधना का प्रारम्भ भगवान् की कल्पना करके ही करना होता है, इस विषय में कोई सन्देह नहीं; लेकिन उस कल्पना को हम कहीं सत्य न समझ बैठें। इस कल्पना की सहायता से ही उनकी ओर हमारा बढ़ना शुरू होता है; और उसका अन्त तब होता है, जब हम उनके पादपद्मों में पहुँच जाते हैं। और हम वहाँ पर पहुँच गये इसका लक्षण यही है कि क्रमशः उनके प्रति अनुराग की वृद्धि होगी और उनके अस्तित्व के सम्बन्ध में हमारे समस्त संशयों का अवसान होगा। और ये लक्षण स्वसंवेद्य हैं, हम स्वयं इनको समझ सकते हैं; क्योंकि मेरे मन की गति किस ओर है इसे दूसरे की अपेक्षा मैं ही ठीक से समझ सकता हूँ। अक्सर हम अपने आपको ऐसा दिखाने की कोशिश करते हैं, जिससे लोग हमें एक बहुत बड़ा भक्त समझें। पर अपना स्वरूप अपनी दृष्टि से कभी छिपा नहीं रहता।

### आत्मविश्लेषण

निष्कपट भाव से तनिक आत्मविश्लेषण करने से ही मन की करनी पकड़ में आ जाती है, हम समझ सकते हैं कि हम कहाँ पर खरे हैं और कहाँ

पर खोटे। एक काली का उपासक माँ-काली के दर्शन करने के लिए बहुत व्याकुल था। जिसको देखता उसी से पूछता, "क्या मुझे माँ के दर्शन करा सकते हो?" यह सुनकर एक व्यक्ति बोला, "हाँ, करा सकता हूँ।" जिस तरह लोगों को समझाया जाता है, उसी तरह समझाते हुए वह बोला, "अमावस्या की रात्रि में श्मशान में जाकर माँ-काली की पूजा करनी होगी। यह सब सामान लगेगा। तुम सब जुगाड़ करके ले आओ। माँ-काली के दर्शन होंगे।" कहना न होगा कि इस पूजा में एक भारी-भरकम दक्षिणा भी अवश्य देनी थी! सब व्यवस्था हो जाने पर उसने भक्त से कहा, "आँख मूँदकर माँ की मूर्ति का ध्यान करो।" भक्त ने वैसा ही किया। उसके बाद वह बोला, "अब देखो, माँ आ गयी हैं।" आँख खोलकर भक्त ने देखा तो सचमुच माँ खड़ी हुई थीं। वह कुछ देर तक देखता रहा और फिर कहने लगा, "माँ, तुम जो सामने आयी हो, उससे मेरे मन में आनन्द का स्रोत क्यों नहीं बह रहा है? जगन्माता के दर्शन से तो मन को आनन्द से भर जाना चाहिए था। लेकिन मुझे तो वैसा नहीं हो रहा है!" – यह कहते हुए वह माँ के पैरों को पकड़ने लगा। तब वह माँ चिल्लाकर बोल उठी, "अरे बेटा, मैं कुछ नहीं जानती; मुझे यह ब्राह्मण कुछ पैसे का लोभ दिखाकर पकड़ लाया है, मुझे छोड़ दे!" यह दृष्टान्त बस इतना समझाने के लिए दिया गया कि अपने आपके साथ हम छल नहीं कर सकते। यदि थोड़ासा स्थिर होकर विचार करें तो हमारा मन हमें स्पष्ट बता देगा कि हम भगवान् की ओर सचमुच बढ़ रहे हैं या नहीं। ठाकुर कह रहे हैं कि चावल कूटते समय बीच बीच में हाथ में लेकर देखना पड़ता है कि किस तरह कुटाई हुई है। ठीक इसी प्रकार साधना के समय बीच बीच में स्वयं की परीक्षा करके देखना होता है कि साधना पथ में मेरी उन्नति हो रही है या नहीं। ठाकुर बता रहे हैं कि एक आदमी रात भर खेत में पानी सींचता रहा, पर सुबह देखा तो खेत में एक बूँद भी पानी नहीं था। खेत में कितने ही बिल थे, जिनमें से होकर सारा पानी बह गया था। ऐसे सब बिलों को खोजकर बन्द करना होगा, अर्थात् इस पर नजर रखनी होगी कि साधनसम्पदा कहाँ से चोरी चली जा रही है। यह ठीक उन मतवालों की तरह की अवस्था है, जो सारी रात डाँड़ चलाते रहे और जब सुबह देखा तो पाया कि उनकी नाव जहाँ थी ठीक वहीं है;

क्योंकि नाव को खोला नहीं गया था! ठीक ऐसे ही हम भी अक्सर देखते हैं कि वर्ष पर वर्ष जप-ध्यान करके भी हमारा कुछ हो नहीं रहा है। इस 'मैं-मेरा' बुद्धि ने हमें चारों ओर से बाँध रखा है। शत-शत आशा-आकांक्षा-कामना की रस्सी से हम संसार में इस प्रकार बँधे हुए हैं कि हजार जप-तप करके भी आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं। इसलिए जब भी हम भटकाव का अनुभव करें और ऐसा सोचें कि हम जो इतनी साधना कर रहे हैं उससे ठीक ठीक आगे बढ़ रहे हैं न, तब हमारे लिए यह उचित है कि लक्षणों को मिलाकर हम देखें कि सचमुच हमारी प्रगति हो रही है या नहीं। जैसा कि 'गीता' में कहा गया है, पहले यह जान लेना होगा कि बाधा कहाँ पर है, तभी उसे पार करना सहज होगा। अतएव आत्मविश्लेषण की आवश्यकता है, क्योंकि मैं स्वयं अपने आपको जितनी अच्छी तरह से जानता हूँ उतना कोई दूसरा नहीं जान सकता। इसलिए 'गीता' में, भक्तिशास्त्रों में बार बार निष्कपट होने की बात कही गयी है। और यही कारण है कि ठाकुर भी बार बार कहते हैं, "सरल न होने से उन्हें पाया नहीं जा सकता।"

□ □ □

# २०. ब्रह्मतत्त्व तथा आदिशक्ति

(वचनामृत १।४७।१ : २२ जुलाई १८८३)

इस परिच्छेद के प्रारम्भ में मास्टर महाशय ने दक्षिणेश्वर का एक अत्यन्त सुन्दर चित्र खींचा है। चित्र की विशिष्टता यह है कि महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त होने से निसर्ग के जड़-सौन्दर्य में मानो एक दिव्य चेतना का संचार हो गया है। पावनसलिला दक्षिणवाहिनी गंगा का वर्णन करते हुए मास्टर महाशय कहते हैं — खरस्रोता गंगा मानो सागर में पहुँचने के लिए कितनी व्यग्र हो उठी है। तात्पर्य यह है कि इस महापुरुष के सान्निध्य में जो लोग आते हैं, वे भी अपने गन्तव्यस्थल को जाने के लिए, अर्थात् अपने इष्ट के साथ मिलने के लिए मानो उसी तरह व्यग्र हो उठते हैं।

## 'ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या' पर विचार

उसके बाद मणि मल्लिक की बात उठी। वे काशी में एक साधु के दर्शन कर आये हैं। साधु ने कहा है, "इन्द्रियसंयम न होने से कुछ भी होने का नहीं। केवल ईश्वर-ईश्वर करने से क्या होगा?" ठाकुर कह रहे हैं, "इनका मत क्या है जानते हो? पहले साधना चाहिए, शम-दम-तितिक्षा चाहिए। ये लोग निर्वाण की चेष्टा करते हैं। ये लोग वेदान्तवादी हैं, केवल विचार करते हैं, 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' — बड़ा कठिन रास्ता है।" इसके तुरन्त बाद ठाकुर दर्शन की एक सूक्ष्म बात कहने लगते हैं, "जगत् के मिथ्या होने से तुम भी मिथ्या हुए; जो कहते हैं, वे भी मिथ्या हुए, उनकी बात भी स्वप्नवत् हुई। बड़ी दूर की बात है।" इस बात पर अनेक शास्त्रों ने चर्चा की है। ज्ञानी कहते हैं, 'जगत् मिथ्या'। लेकिन 'जगत् मिथ्या' का बोध इस अवस्था में नहीं होता, जिसमें हम रहते हैं। जब तक हमारा 'मैं'-बोध रहता है, हममें 'मैं' की अनुभूति रहती है, तब तक जगत् को मिथ्या, स्वप्नवत् कहकर उड़ा देने से काम नहीं चलेगा। इधर जगत् की सभी वस्तुओं की आवश्यकता है, लोकव्यवहार भी जैसा सर्वसाधारण करते हैं, वैसा ही मैं भी कर रहा हूँ, और

उधर मुँह से कहता हूँ, 'जगत् मिथ्या है, स्वप्नवत् है', इससे वचन और कर्म में कोई मेल नहीं बैठता। इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं कि यदि जगत् मिथ्या है, तो जो यह बात कहता है वह भी मिथ्या है और उसकी बात भी मिथ्या है।

इस 'मिथ्यात्व के मिथ्यात्व' को लेकर वेदान्त में बड़ी चर्चा की गयी है — अत्यन्त सूक्ष्म चर्चा। यहाँ उसकी चर्चा करने की आवश्यकता हमें नहीं है। सूक्ष्मता से शास्त्रचर्चा जनसाधारण के लिए सहजबोध्य नहीं होती। फिर भी हम ठाकुर के कथन का मर्म समझने की चेष्टा करेंगे। ठाकुर कह रहे हैं कि जो 'जगत् मिथ्या' कहता है, वह क्या जगत् के अन्तर्गत नहीं है? यदि वह जगत् के अन्तर्गत है, तो वह भी मिथ्या है। और यदि वह मिथ्या है, तो उसकी सब बातें भी मिथ्या हैं। अतः उसका यह कहना कि 'जगत् मिथ्या है' यह बात भी मिथ्या हुई। लेकिन 'जगत् मिथ्या' यह बात तो मिथ्या नहीं है। अतः 'जगत् मिथ्या' यह बात उस प्रकार से नहीं कही जा सकती। तथापि वेदान्त जो 'जगत् मिथ्या' कहता है, उसका कारण यह है कि एक उच्चतर भूमि पर आरूढ़ होकर निम्न भूमि को मिथ्या कहा जाता है। जब तक मैं रज्जु में सर्प देखता हूँ, रस्सी को सर्प समझता हूँ, तब तक सचमुच के सर्प को देखने से जो अनुभव होता है, ठीक वैसा ही अनुभव होता है। साँप को देखकर जैसा भय होता है, तब वैसा ही भय होता है। अतः इस अवस्था में साँप मिथ्या नहीं होता। साँप यदि मिथ्या होता तो भय नहीं होता। मिथ्या साँप को देखने से डर नहीं लगता। साँप का चित्र देखकर भय नहीं होता। लेकिन यहाँ पर तो खासा भय हो रहा है। देखते ही हम डर के मारे भागते हैं, हृदय धड़कने लगता है। अतः इस अवस्था में साँप नितान्त सत्य है। इस सत्य को हम मिथ्या कहकर झुठला नहीं सकते। पर जब हमें रज्जु का ज्ञान होता है, जब हम रस्सी को जान लेते हैं, तब हम कहते हैं कि वह साँप नहीं, रस्सी है। इसलिए जब तक रस्सी का ज्ञान नहीं होगा, तब तक यह सर्प मिथ्या नहीं है। यह विशेष रूप से जानने योग्य बात है। अर्थात् जब तक न ब्रह्म को जान लिया जाए,तब तक जगत् मिथ्या नहीं होता।

जब तक इस संसार में हम रहते हैं, व्यवहार करते हैं, समस्त इन्द्रियों के द्वारा उसे ग्रहण करते हैं, — तथा साधारण लोगों के ही समान आग्रहपूर्वक

ग्रहण करते हैं, तब तक इस जगत् को मिथ्या कहना एक प्रवंचना मात्र है। ऐसा कहने पर वचन और कर्म में बिलकुल मेल नहीं बैठता। इस जगत् को हम तभी मिथ्या कह सकते हैं, जब उसके प्रति रंचमात्र भी आकर्षण न रहे। एक स्थान पर कुछ चमक रहा है। यदि हम यह जानें कि भले ही वह चाँदी के समान चमक रहा है, पर वह चाँदी नहीं, सीप है, तब हम उस चाँदी के पीछे नहीं दौड़ेंगे, उसे पाने की चेष्टा नहीं करेंगे। लेकिन जब उसे चाँदी समझते हैं और उसे उठा लेने के लिए दौड़ पड़ते हैं, तब उस समय 'चाँदी नहीं है, सीप है' यह कहने का कोई तुक नहीं है।

हमारे शास्त्र कहते हैं कि संसार केवल व्यवहारकाल में रहता है,-जैसे रस्सी में सर्प। रस्सी में भ्रमवश जिस सर्प को देख रहा हूँ, वह मेरे लिए सत्य है – अर्थात् जिस अवस्था में मैं द्रष्टा हूँ, उस अवस्था में सर्प मेरे लिए सत्य है। लेकिन वह सर्प निरपेक्ष सत्य नहीं है, अर्थात् मेरे स्थान पर और कोई व्यक्ति उसे यदि भिन्न रूप में देखे, या मैं स्वयं दीपक के प्रकाश में उसे रस्सी के रूप में देखूँ तो वह सर्प यह सत्य नहीं रह जाता। अर्थात् अवस्था के परिवर्तित होने पर उसकी सत्यता का लोप हो जाता है। तभी उसे मिथ्या कहा जाता है, उसके पहले नहीं। जब तक हमें ब्रह्मानुभूति नहीं हो जाती, तब तक यह जगत् हमारे लिए सत्य ही प्रतीत होगा। इस सत्य को हम 'व्यावहारिक सत्य' कहकर पुकारते हैं। 'व्यावहारिक सत्य' का अर्थ होता है – जो व्यवहारकाल में सत्य हो। जब तक हम इस व्यवहार के राज्य में हैं, इस द्वैत के राज्य में हैं, या यों कहें कि जब तक हमारा 'मैं' बना हुआ है, तब तक जगत् है। अतः उस अवस्था में 'जगत् मिथ्या' कहने का अधिकार हमें नहीं है। यदि मैं अपने अहं को कभी नकार सका, यदि कभी अपनी व्यावहारिक सत्ता को लाँघकर पारमार्थिक सत्ता में पहुँच सका, केवल तभी यह जगत् मेरे लिए मिथ्या होगा, इससे पहले नही।

### जगत् को स्वीकार करके ही शास्त्र का विधिनिषेध है

जब तक हम परमार्थसत्य (Absolute Truth) का, उस सर्व-अवस्था-निरपेक्ष सत्य का अनुभव नहीं करते, तब तक हमें इस जगत् को सत्य मानना ही होगा। और इस प्रकार का मानना अनिवार्य होने के कारण ही

हम कहते हैं कि परमार्थसत्य पर पहुँचने के लिए हमें साधना की आवश्यकता है। यदि जगत् मिथ्या हो, द्वैतबुद्धि मिथ्या हो, तो उसे दूर करने के लिए इतनी साधना की आवश्यकता क्योंकर होनी चाहिए? जब हम जगत् को मिथ्या ही कहते हैं, तब तो किसी साधना की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि साधना भी मिथ्या है। यह बात शास्त्रकार विशेष जोर देकर कहते हैं कि जगत् यदि मिथ्या है, मैं यदि न होऊँ, तो श्रवण-मनन-निदिध्यासन का उपदेश किसके लिए है? लेकिन शास्त्रों का कहना है कि इस आत्मतत्त्व को जानना होगा और जानने के लिए सुनना होगा, ध्यान करना होगा। यह जो 'करना होगा' कहा जा रहा है, वह किसके लिए कहा जा रहा है? कौन करेगा? यदि ब्रह्म को छोड़कर कोई दूसरी वस्तु न हो तो फिर उपदेश किसके लिए है? कौन फिर उपदेश दे और किसके लिए दे? अतः इस प्रकार इस जगत् को कभी नकारा नहीं जा सकता। जगत् की सत्यता को मानने पर ही शास्त्र का विधि-निषेध संगत होता है, और तभी यह कहने की सार्थकता होती है कि मैं यह करूँगा, यह नहीं करूँगा, यह अच्छा है, यह बुरा है, आदि। गीता कहती है – 'हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते' (१८-१७) – जगत् के समस्त प्राणियों की हत्या करके भी न तो वह हत्या करनेवाला बनता है, न ही हत्या करने के परिणाम से आबद्ध होता है, क्योंकि उसके लिए कोई कर्म नहीं है। कारण यह है कि उसने पारमार्थिक सत्य को जान लिया है, स्वयं को शुद्ध निष्क्रिय आत्मा के रूप में अनुभव कर लिया है। यह जो कहा गया, इसका यह मतलब नहीं कि हम उसकी आड़ में मनमानी करें। ऐसा करने से तो सारे नीति-धर्म आदि व्यर्थ हो जाएँगे, उनका कोई प्रयोजन, कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। इसीलिए शास्त्र कहते हैं कि जब तक 'तुम' हो, तुम्हारा व्यक्तिबोध बना हुआ है, तब तक यह सब सत्य है। तुम्हारे लिए बन्धन सत्य होने के कारण तुम्हें इस 'सत्यबन्धन' से मुक्ति पाने के लिए साधना की आवश्यकता है, क्योंकि शास्त्र तुम्हें इस बन्धन से मुक्ति पाने का उपाय बतला दे रहा है। यदि तुम जीवन्मुक्त हो, तब तो तुम्हें इस सब की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। वेदान्त कहता है, 'अत्र ... वेदा अवेदाः' (बृहदारण्यक उपनिषद्, ४.३.२२) – अर्थात् उस जीवन्मुक्ति की अवस्था में वेद अवेद हो जाता है, यानी अज्ञान के अन्तर्भूत हो जाता है,

क्योंकि तब वेद की शिक्षा का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। तब वेद किसके लिए रहेगा ? उसे कौन पढ़ेगा ? वह किसके प्रति कहा जाएगा ? जब एक ही आत्मा है, जब कोई अन्य तत्त्व है ही नहीं, तब कोई व्यवहार भी नहीं, शास्त्र भी नहीं।

## अध्यासभाष्य और माण्डूक्यकारिका

इसीलिए आचार्य शंकर कहते हैं, 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य . . . नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।' (ब्रह्मसूत्र, अध्यासभाष्य) – इस जगत् के समस्त व्यवहार – लौकिक और वैदिक दोनों – सत्य और मिथ्या का मिश्रण हैं। 'लौकिका वैदिकाश्च . . . सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि' (अध्यासभाष्य)। – अर्थात् यागयज्ञादि जो कुछ वैदिक व्यवहार हैं, खाना-पहनना, चलना-फिरना आदि जो कुछ लौकिक व्यवहार हैं तथा विधि-निषेधात्मक जितने शास्त्र आदि हैं, वे सभी सत्य और मिथ्या के मिश्रण हैं। 'सत्य' वह है जो अपरिवर्तनशील है और 'मिथ्या' वह है जो उस सत्य के साथ जुड़ी हुई परिवर्तनशील परिणामी वस्तु है। इन दोनों को एक अर्थात् अभिन्न मानते हुए, उनके पार्थक्य को भुलाकर, हम समस्त लौकिक-वैदिक व्यवहार करते रहते हैं।

उस परमार्थ सत्य को, अपरिवर्तनशील तत्त्व को लक्ष्य करके कहा गया है – 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥' (माण्डूक्यकारिका, २.३२) – परमार्थसत्य यह है कि निरोध अर्थात् प्रलय नहीं है, उत्पत्ति अर्थात् जन्म नहीं है, बद्ध अर्थात् संसारी जीव नहीं है, साधक नहीं है, मुक्तिकामी नहीं है, मुक्त कहकर भी कोई नहीं है। इस परमार्थसत्य को व्यवहारभूमि पर खींच लाना भ्रान्तिकर है। उससे अनेक प्रकार का भ्रम उपजता है। इस बात को हमें जान रखना होगा। ठाकुर के जीवन की एक घटना है। दक्षिणेश्वर की पंचवटी में एक वेदान्ती रहता था। लोग उसके बारे में तरह तरह की बातें करते। वह सब सुनकर क्षुब्ध होकर ठाकुर ने उससे कहा, "तुम तो वेदान्ती हो जी, फिर तुम्हारे बारे में यह सब क्या सुनाई दे रहा है ?" साधु ने कहा, "महाराज, वेदान्त कहता है कि यह जगत् तीनों काल में मिथ्या है। अतः मेरे सम्बन्ध में आप जो सुन रहे हैं, वह

भी मिथ्या है।" यह सुनकर ठाकुर ने बिगड़कर जो कहा था, वह तो आपने पढ़ा ही होगा। इधर निषिद्ध कर्म भी चल रहा है और उधर मुँह से वेदान्त की लम्बी बातें भी चल रही हैं – ठाकुर इसकी कटु निन्दा करते थे; क्योंकि इस तरह का वेदान्त मनुष्य को किसी कल्याणकारी पथ पर नहीं ले जाएगा; यही नहीं, उसका सर्वनाश भी कर देगा, क्योंकि उसका 'मैं ब्रह्म हूँ' कहना, 'मैं' को समस्त बन्धनों से परे कहना, उसका निरंकुश व्यवहार उसे अधोगामी बना देता है।

## तत्-त्वं-पदार्थविचार

इसलिए वेदान्त के 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'तत्त्वमसि' वाक्यों का तात्पर्य समझना होगा। तभी तो शास्त्रों में 'तत्-त्वं-पदार्थविचार' की बात है। 'तत्-पदार्थ' माने वह जगत्कारण ब्रह्म और 'त्वं-पदार्थ' माने तुम यानी जीव। ये जो 'तत्' और 'त्वं' हैं, वे और तुम हैं, इनके सम्बन्ध में विचार करना होगा, विचार करते करते इनका शोधन करना होगा। अर्थात् जिस दृष्टि से हम इन्हें समझते हैं, उससे देखने से काम नहीं चलेगा। इसके पीछे और भी तत्त्व हैं, उन सब का विचार करके इन दोनों शब्दों का अर्थ ठीक करना होगा। 'त्वं' या तुम माने यह देह-इन्द्रियादि-अभिमानी जीव जिसका अमुक समय जन्म हुआ है, जो इस समय युवा या प्रौढ़ या वृद्ध है, जो कुछ दिन बाद मर जाएगा। ऐसा व्यक्ति कभी ब्रह्म नहीं हो सकता। ब्रह्म पूरी तरह विपरीतधर्मी है। इस प्रकार जो जन्म-मृत्यु-जराग्रस्त है, वह कभी अपरिणामी कूटस्थ ब्रह्म नहीं हो सकता। अतः शास्त्र जब कहते हैं, 'तत् त्वम् असि' (वह तुम हो) तब समझना होगा कि 'तुम' शब्द का यथार्थ अर्थ क्या है। 'तुम' शब्द का वास्तविक अर्थ होता है वह अपरिणामी सत्ता जो देहेन्द्रियादिविशिष्ट कहलानेवाले जीव के परिवर्तनशील अंशों को छोड़ देने पर बच रहती है। और 'वह' कहने का अर्थ हम साधारणतया उस सत्ता से लेते हैं, जो जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय करती है। सृष्टि-स्थिति-लयकर्ता का कर्तृत्व सृष्टि-स्थिति-लयरूप कर्म के ऊपर निर्भर करता है। ऐसा न होने से उसका कर्तृत्व किस प्रकार प्रकट होगा? लेकिन जो कर्तृत्वविशिष्ट होता है, समझ लेना कि वह परिणामी होगा; कर्ता होते ही वह परिणामी कहलाएगा। अतः जब 'तत्' या 'वह' कहते हैं, तब उसका अर्थ

ईश्वर भी नहीं है। इसके पीछे, इसकी पृष्ठभूमि में कोई एक अपरिणामी सत्ता है, जो कुछ भी नहीं करती, जो सृष्टि-स्थिति-लय कुछ भी नहीं करती, उसी को 'तत्' या 'वह' कहकर सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार 'तत्' पद एवं 'त्वं' पद, 'वह' और 'तुम' इन दोनों पदों का विश्लेषण करके इनके पीछे जो एक अद्वितीय अपरिवर्तनशील अपरिणामी सत्ता है, हम उस तक पहुँचते हैं। वहाँ पर भेद का कारण खोजने पर भी कुछ नहीं मिलता। एक से दूसरे को अलग करने लायक कोई धर्म या गुण वहाँ नहीं मिलता। इसलिए इन दोनों को एक कहा गया है, दो भिन्न भिन्न नहीं हैं ऐसा कहा गया है।

### श्रीरामकृष्ण की शिक्षा : व्यवहार के क्षेत्र में द्वैतभाव

यह जो अभेदज्ञान की बात कही गयी, वह कभी इस व्यावहारिक क्षेत्र में सम्भव नहीं है, यह बात शास्त्र बार बार विश्लेषण करके दिखा देते हैं, समझा देते हैं। व्यावहारिक क्षेत्र में इस अभेदतत्त्व को मानने से वेदान्त का दुरुपयोग होता है, जिसकी ठाकुर ने निन्दा की है। जो वेदान्त का दुरुपयोग करता है, उसे 'हठवेदान्ती' कहा जाता है। वह 'जबरन वेदान्ती' है। शास्त्र मनुष्य को सावधान कर देते हैं कि तुम इस प्रकार के 'हठवेदान्ती' न बनो। ठाकुर कह रहे हैं कि इस अभेद की अपेक्षा भेद का रहना अच्छा है, वे और मैं भिन्न हैं, मैं दास हूँ, वे प्रभु हैं, मैं उनकी सन्तान हूँ, वे मेरे माता-पिता हैं, बुद्धि में ऐसा पार्थक्य रखकर मनुष्य आगे बढ़ सकता है।

### शास्त्र का असल तात्पर्य

शास्त्र जब अभेदज्ञान का उपदेश करते हैं, तब व्यावहारिक दृष्टि से जो भेद है उसे अस्वीकार नहीं करते। जैसा कि एक दृष्टान्त दिया जाता है – सोने का जो कुछ भी है, वह सब सोना ही है। जैसे सोने का लोटा, सोने की कटोरी, सोने का हाथी – ये सभी सोना हैं। लेकिन सोने का लोटा और सोने का हाथी दोनों कभी एक नहीं हैं। सब कुछ पंचभूतों के मेल से बना है – उसी से रेत भी बनी है, तिल भी बना है। लेकिन जब हम तेल निकालने जाते हैं, तब रेत को पीसकर तेल नहीं निकालते, तिल को ही पीसकर तेल निकालते हैं। यदि सभी ब्रह्म है, तब तो रेत भी ब्रह्म है और तिल भी ब्रह्म है अर्थात् जो रेत है वही तिल है। अतः रेत को पीसने पर तेल निकलना चाहिए, पर यह कभी नहीं

होता। व्यवहार में जो भेद है, उसे बनाकर रखना ही होगा। हम व्यवहार को कभी इस प्रकार नकार नहीं सकते। जो यह कहते हैं कि सभी ब्रह्म है, भोजन के समय उनमें से किसी की थाली में यदि कोई यह कहकर एक मुट्ठी रेत रख दे कि अन्न भी ब्रह्म है और रेत भी ब्रह्म है, इसलिए थाली में रेत ही दे दी है, अब तुम खाओ, तब क्या हाल होगा? जब हम कहते हैं कि सभी ब्रह्म है, तब इसका तात्पर्य व्यवहार से कभी नहीं होता। व्यवहार के पीछे जो अव्यवहार्य तत्त्व है, व्यवहार से अतीत जो समस्त विक्रिया से रहित तत्त्व है, जो कभी किसी प्रकार के परिणाम को प्राप्त नहीं होता, उस तत्त्व की ओर दृष्टि रखकर ही हम कहते हैं कि सभी ब्रह्म है या यह कि ब्रह्म और जीव अभिन्न हैं। ऐसा न हो तो जीव, जिसे हम अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान देखते हैं और ईश्वर, जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं तथा सृष्टि-स्थिति-प्रलय करते हैं — ये दोनों कभी अभिन्न नहीं हो सकते। यदि अभिन्न होते, तब तो जीव ही जगत् की सृष्टि कर सकता । लेकिन जीव कभी ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि वह अल्पशक्तिमान् है। जीव के सम्बन्ध में शास्त्र कहते हैं, 'बालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च भागो जीवः' (श्वेताश्वतर उपनिषद्, ५.९)। जीव कैसा है? एक केश लें, उसके सौ भाग करें, उन सौ भागों में से एक को लेकर पुनः उसके सौ भाग करें तो उसका एक भाग जितना सूक्ष्म होगा, उतना सूक्ष्म यह जीव है। अतः इस विराट् जगत् में — इस विश्वब्रह्माण्ड में जीव भला कितना सा है? क्षुद्रातिक्षुद्र अणु से भी वह छोटा है। और ऐसा जीव यदि कहे कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तो यह एकदम पागल की बकझक ही तो है!

तो, इस प्रकार से 'अहं ब्रह्मास्मि' नहीं होता। हमारे पीछे जो अविकारी सत्ता है, जिस सत्ता के रहने से हमारा समस्त व्यवहार सम्पन्न होता है, जिसका अवलम्बन करके मैं अस्तित्ववान् हूँ — मैं हूँ, मैं अनुभव करता हूँ, मुझे ज्ञान होता है — वस्तुतः वही सत्ता ब्रह्म के साथ अभिन्न है। हमें उस सत्ता की कोई धारणा तो होती नहीं और इधर कहते हैं — 'मैं ब्रह्म हूँ'! ठाकुर कहते थे, "काँटा नहीं, चुभन नहीं, यह सब मुँह से कहने से क्या होगा? काँटे पर हाथ पड़ते ही, उसके चुभते ही हम 'उफ्' कह उठते हैं। मैं शरीर नहीं, देहधारी जीव नहीं, इस तरह हम खाली मुँह से कहते हैं, लेकिन पग-पग पर संसार हमें

अनुभव करा दे रहा है कि मैं देहधारी हूँ, जरामरणग्रस्त हूँ, सब प्रकार के बन्धनों से बँधा हूँ। विडम्बना यह है कि इसी 'मैं' को लेकर हम कहते हैं कि मैं इन बन्धनों से मुक्त हूँ। ऐसा कहना निरा पागलपन है। एक पागल को देखा था, जो कह रहा था कि मैं अमुक राज्य का राजा हूँ, और एक कागज के टुकड़े पर लिखकर एक व्यक्ति से कह रहा था – लो, तुम्हें यह चार लाख का चेक दिया, भुना लो। इधर बैंक में एक भी पैसा नहीं ! इसे कहते हैं पागल। जो खाली अर्थहीन प्रलाप करता रहता है, जिसकी बात का यथार्थ के साथ कोई मेल नहीं रहता, उसे पागल कहते हैं। अतएव तत्त्व की उपलब्धि के क्षेत्र में यदि हम शून्य हैं, और इधर मुँह से कहते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ', तो यह पागलपन के सिवा और कुछ नहीं है। मैं अपने अन्तःकरण की गहराइयों में यही समझता हूँ कि मैं देहधारी जीव हूँ, दो दिन पहले मैंने जन्म लिया था, दो दिन बाद मर जाऊँगा, जीवनभर हजारों बन्धनों से बँधा हुआ हूँ और उधर मुँह से कहता फिरता हूँ कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। यह तो पागलपन है। ठाकुर बार बार कहते हैं कि इस प्रकार का मिथ्याभिमान ठीक नहीं है। क्यों ? – इसलिए कि ऐसा होने से उन्नति का और कोई मार्ग नहीं रहेगा। जिस उन्नति को हम पागलपन के कारण मिथ्या कहते हैं, उसके लिए फिर कोई चेष्टा नहीं रह जाती; क्योंकि मिथ्या वस्तु को प्राप्त करने के लिए मनुष्य में कभी आकांक्षा नहीं होती। इससे ब्रह्मानुभूति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

### जगत् का मिथ्यात्व चरम अनुभूतिसापेक्ष है

हम स्वप्न को मिथ्या कहते हैं। कब कहते हैं ? स्वप्न देखते समय स्वप्न को मिथ्या अनुभव नहीं करते। तब तो उसे एकदम सत्य ही समझते हैं। नींद खुलने पर हम स्वप्न को मिथ्या कहते हैं। लेकिन जब तक हम स्वप्न के भीतर हैं, स्वप्नावस्था में दिखनेवाली वस्तुएँ जाग्रत् अवस्था में दिखनेवाली वस्तुओं के समान ही सत्य प्रतीत होती हैं, उनसे कम सत्य नहीं। जाग उठने पर स्वप्न की वस्तुओं को मिथ्या समझा जा सकता है, तब स्वप्नावस्था को मिथ्या कहा जा सकता है। ठीक इसी प्रकार जाग्रत् अवस्था को मिथ्या कहने के लिए हमें जाग्रत् की अपेक्षा और भी अधिक उच्चतर अवस्था में जाना होगा। तभी हम समझ सकेंगे कि जाग्रत् अवस्था भी मिथ्या है तथा तभी हमें उसे मिथ्या कहने

का अधिकार होगा। जब तक हम इस जाग्रत् के भीतर हैं, तब तक हमें इस जाग्रत् अवस्था को मिथ्या कहने का कोई अधिकार नहीं है। यदि ऐसा है तो फिर शास्त्र या आचार्यगण जगत् को मिथ्या क्यों कहते हैं ? इसलिए कहते हैं कि जगत् से परे स्थित तत्त्व की ओर आरोहण करने के लिए हमें इस उपदेश की आवश्यकता है। सोता हुआ व्यक्ति जब बर्राने लगता है, तब उसे पुकारकर उठा देना पड़ता है। ठीक उसी प्रकार शास्त्र हमें सुषुप्ति अवस्था से जगा देने के लिए कहते हैं – 'उत्तिष्ठत जाग्रत'। तुम सो रहे हो, सोए सोए स्वप्न देख रहे हो, उठो जागो। शास्त्र या आचार्यगण यह नहीं कहते कि तुम कल्पना करो कि जगत् मिथ्या है। यह कल्पना हमें कभी 'जगत् मिथ्या है' ऐसा बोध नहीं करा सकती। जगत् के अतीत तत्त्व में न पहुँचने तक, ब्रम्ह के सम्बन्ध में अपरोक्ष अनुभूति न होने तक यह जगत् अभी जैसा सत्य है, आज जैसा सत्य है, कल भी वैसा ही सत्य रहेगा। अतः जगत् को व्यवहार की भूमि पर मिथ्या कहकर उड़ाया नहीं जा सकता। इसलिए ठाकुर कह रहे हैं कि जो इस प्रकार उड़ा देता है, उसकी बात भी उड़ा देने लायक होती है। ऐसी वेदान्त की बातों की ठाकुर निन्दा करते हैं।

**श्रीरामकृष्ण की उपमा और व्याख्या**

इसके बाद ठाकुर एक दृष्टान्त देते हैं। दृष्टान्त बहुत सुन्दर है। "यह कैसा है जानते हो ? जैसे कपूर जलाने से कुछ भी शेष नहीं रह जाता। काठ को जलाने से तो फिर भी राख बच जाती है।" कपूर को जलाने से कुछ भी बाकी नहीं रह जाता, यह कहने का तात्पर्य यह है कि हमारी उपाधियाँ, आवरण इत्यादि दूर होते होते अन्त में क्या बच जाता है ? ठाकुर कहते हैं – कुछ भी नहीं बच रहता। कुछ भी बाकी नहीं रह जाता माने क्या ? क्या सब शून्य हो जाता है ? नहीं, ऐसा नहीं है। हमारा यह जो 'मैं' है, जिस 'मैं' को लेकर हम सदा व्यवहार करते हैं, उस 'मैं' के भीतर जो परिणामी वस्तुएँ हैं, जो परिवर्तित होती रहती हैं, वे सब एक एक करके समाप्त हो जाती हैं, और शेष रह जाती है एक वस्तु – वह स्वयं, जिसने बाकी सब को हटा दिया। मैंने उपाधियों को तो एक एक करके हटा दिया, लेकिन एक तत्त्व बचा रहा, उसे हटानेवाला कोई रह नहीं गया। अभिप्राय यह है कि जीव जब समस्त आवरणों से मुक्त हो

जाता है, तब वह ब्रह्म के समान ही अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय हो जाता है – ब्रह्मरूप हो जाता है। तब उसके जीवत्व का कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। स्वामी विवेकानन्द ने इसी वेदान्त की बात अपनी भाषा में कही है – "नेति नेति" विराम जथाय।" 'यह नहीं' 'यह नहीं' कहते हुए चलते चलते अन्त में जहाँ आकर मनुष्य रुक जाए, वहाँ अवशिष्ट रहता है 'एकरूप, अ-रूप-नाम-वरण, अतीत-आगामी-कालहीन, देशहीन, सर्वहीन' तत्त्व, जिसे ब्रह्म कहा जाता है, जो जीव का यथार्थ स्वरूप है।

यह जो शरीर, इन्द्रिय आदि को एक एक करके हटाना है, इसे कहते हैं 'अपवाद' – अध्यारोप का अपवाद – हमारे ऊपर जो कुछ आरोपित हो गया है, जो भी आवरण आ गया है उस सम्पूर्ण आवरण या आरोपित वस्तु को हटा देना। मानो आत्मा पर कितने ही खोल चढ़ा दिये गये हैं, उनको एक एक करके उतारकर हटा देना है। जब हटाते हटाते और कुछ भी हटाने का बाकी नहीं रहता, तब जो रहता है वही रहता है। यह नहीं कहा जा सकता कि कुछ रहा नहीं। अनेक दृष्टान्त देते हुए ठाकुर ने कई स्थानों पर वेदान्त के इस सूक्ष्म तत्त्व को समझाने की चेष्टा की है। कभी कहा है कि प्याज का छिलका उतारते उतारते अन्त में कुछ नहीं बचता, उसी प्रकार उपाधियों को उतारते उतारते अन्त में कुछ भी ऐसा अवशिष्ट नहीं रह जाता जिसे उतारा जाए। कुछ अवशिष्ट नहीं रह जाता इसका अर्थ यह है कि ऐसा कुछ रह नहीं जाता, जिसे अलग किया जाए। 'यह मैं नहीं', 'यह मैं नहीं' कहते कहते जहाँ निषेध करने के लिए और कुछ बाकी न रहे – निषेध का जहाँ अन्त हो जाए – वहाँ शब्दादि के द्वारा और कोई व्यवहार सम्भव नहीं होता। उस स्थिति का शब्द के द्वारा उल्लेख नहीं किया जा सकता, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वर्णन करेगा कौन? ठाकुर कहते हैं कि नमक का पुतला समुद्र नापने गया और जाकर समुद्र में पिघल गया। समुद्र कैसा है, इसकी खबर कौन देगा? नमक का पुतला – ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं। नमक पुतले का स्वरूप है। नमक ही उसका सब कुछ है, केवल एक आकार भर है। फिर समुद्र का स्वरूप भी नमक है। नमक का पुतला समुद्र को नापने के लिए समुद्र में उतरा – यह देखने कि समुद्र में कितना जल है, उसके भीतर क्या क्या है। लेकिन नापने जाकर वह

पिघल गया। समुद्र के साथ उसका जो आकारगत भेद था, वह दूर हो गया। अब खबर देगा कौन ? ब्रह्म से भिन्नता प्रतीत करानेवाले जो धर्म थे, जो रूप थे, जो विशेषण थे, जीव जब ब्रह्म का अनुसन्धान करते करते उन सब से एक एक करके मुक्त हो जाता है, तब ब्रह्म के स्वरूप को कौन बताएगा ? कठोपनिषद् कहता है –

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम।(१।१५)

– जैसे एक बूँद जल शुद्ध जलराशि में गिरकर उस जलराशि के साथ अभिन्न हो जाता है, तद्रूप हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति की आत्मा भी ब्रह्म से अभिन्न हो जाती है। अर्थात् उसमें उस ब्रह्मवस्तु से पृथक् करने योग्य कोई धर्म अवशिष्ट नहीं रह जाता। वह ब्रह्म के साथ अभिन्न हो जाता है। लेकिन यह अभिन्नता अर्जित नहीं है। आवरणों को हटाना पड़ता है, पोशाक उतारने के समान आरोपित वस्तुओं को एक एक करके हटाना पड़ता है – ऐसा कहने का तात्पर्य यह नहीं कि जीव क्रिया के द्वारा ब्रह्म के साथ अभिन्नता अर्जित करता है। जैसा कि एक दृष्टान्त दिया जाता है – घड़ा समुद्र में पूरी तरह से डूबा हुआ है। हम कहते हैं कि यह घड़े का जल है और यह समुद्र का जल। वास्तव में घड़े में जो जल है, वही जल समुद्र में है। घड़े का जो आकार है, वह मानो समुद्र के जल को आकार दे देता है। घड़े को अगर तोड़ दिया जाए तो उसके जल का क्या होता है ? क्या वह समुद्र में मिल जाता है ? वह तो मिला हुआ था ही, वह कभी समुद्र के जल से अलग नहीं था – घड़े का जल और समुद्र का जल, दोनों सदा एक ही थे। हम केवल घड़े के आवरण के कारण उन्हें अलग समझ रहे थे। विचार के द्वारा हमारी वह भेदबुद्धि दूर हो जाती है। जीव की भी ब्रह्म के साथ जो अभेद की प्रतीति है, उसका अर्थ कुछ अर्जन करना नहीं है, बल्कि यह है कि जो भेदबुद्धि उसके मन में विद्यमान है, जिसके परिणामस्वरूप उसका 'मैं' ठोस जमा हुआ सा बैठा है, उस भेदबुद्धि का लुप्त हो जाना। तब जो था, वही रह जाता है।

□ □ □

---


**(H-112) Shri Ramakrishna-Vachanamrit Prasang : Rs. 20/-**